सहजानंद शास्त्रमाला

समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

समाधितन्त्र **आचार्य पूज्यपाद** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधितन्त्र ग्रन्थके श्लोक 1 से 27 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर**एवं प्रूफ चेक करने में विधानाचार्य पंडित **श्री पदमकुमारजी गंगवाल, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णीद" महाराज द्वारा रचित सहजानन्‘

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय ..... - 2 -

आत्मकीर्तन ..... - 3 -

आत्म रमण ..... - 4 -

गाथा 1 1

गाथा 2 6

गाथा 3 10

गाथा 4 15

गाथा 5 20

गाथा 6 23

गाथा 7 31

गाथा 8 - 9 35

गाथा 10 41

गाथा 11 43

गाथा 12 48

गाथा 13 53

गाथा 14 57

गाथा 15 62

गाथा 16 67

गाथा 17 72

गाथा 18 76

गाथा 19 80
गाथा 20 85
गाथा 21 89
गाथा 22 91
गाथा 23 95
गाथा 24 99
गाथा 25 102
गाथा 26 107
गाथा 27 111

समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

[प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्याय तीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज]

श्लोक 1

येनात्माऽवुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्त बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम:।।१।।

जिसके द्वारा आत्मा-आत्मा ही जाना गया है और आत्मा को छोड़कर अन्य समस्त परद्रव्य और परभाव विभाव समस्त अनात्मतत्त्व पररूप से ही जाना गया है उस अक्षय अनन्तबोध वाले आत्मा के लिए नमस्कार हो।

ग्रन्थनाम व ग्रन्थ के रचयिता—यह समाधितन्त्र नाम का ग्रन्थ है, जिसमें समाधिभाव के तंत्र बताए गए हैं। यह आत्मा आकुलतावों और विकल्पों से हटकर अपने आपके सम, सरल, स्वरस में कैसे रसिक बनें, ऐसा उपाय इस ग्रन्थ में बताया गया है। इस ग्रन्थ के रचियता हैं पूज्य श्री देवनन्दीजी जो पूज्यपाद स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। पूज्यपाद स्वामी के ज्ञान सम्बंधी कितनी योग्यता थी सो उनकी रचनावों के अध्ययन में जो आये वह ही समझ सकता है।

ग्रन्थरचियता का एक व्याकरण ग्रन्थ—व्याकरण जैसा रूखा ग्रन्थ पूज्यपाद स्वामी ने बनाया है जिसका नाम जिनेन्द्र व्याकरण है। अन्य व्याकरण से इस व्याकरण का कोई मिलान करे तो उस ही एक विषय को ले लो, विद्वान् पुरूष विनम्र होकर उनके चरणों में नम जायेंगे। जिसके एक दो उदाहरण ले लो—व्याकरण शब्द सिद्धि का ग्रन्थ है और शब्दों की सिद्धि के अनेक नियम और सूत्र बनाये जाने पर भी कोई न कोई बात शेष रह ही जाती है। उस शेष रही हुई बात को जबकि अन्य वैयाकरणजन व्याकरण के रचियता उसे अपने नाम से लिखते हैं कि आचार्य की ऐसी ही मर्जी थी, जबकि जैनेन्द्र व्याकरण में ऐसी समस्यावों का हल सिद्धिरनेकान्तात् अथवा लोकव्यवहारात् यों सीधा किया गया है। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के रचियता पाणिनि और जैनेन्द्र व्याकरण के रचियता पूज्यपाद स्वामी इनका सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न था तो भी ये कोई परस्पर में रिश्ते वाले थे, या मामा भानजे का ऐसा कुछ रिश्ता था। पूज्यपाद ने व्याकरण रचा, पाणिनि ने भी व्याकरण रचा, लेकिन पाणिनि ऋषि थोड़ा रचकर मृत्यु को प्राप्त हो गए। बाद में पूज्यपादाचार्य ने उसकी पूर्ति की थी, ऐसा सुना गया है। उनका आप मिलान कर सकते हैं। जैनेन्द्र व्याकरणों में थोड़े शब्द हों और बहुत विशेषता को रखते हों, ऐसी रचना पूज्यपाद स्वामी ने की थी। जहाँ

पाणिनि महाराज ने संज्ञावाचक एक-एक नाम में ४, शब्द रखे थे वहाँ जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद स्वामी ने एक-एक शब्द दिया है। कम बोलना, कम लिखना, इसमें बड़े पुरूष विभूति समझते हैं व्यर्थ के लोग ही बकवाद किया करते हैं, बहुत बोला करते हैं। उनकी रचनावों में जो सूत्र हैं उन सूत्रों में संधि भर कर देने से लाघव हो जाता है, इस बात की दृष्टि भी जैनेन्द्र व्याकरण में अधिक रखी गयी है।

रचियता की अन्य अनेक ग्रन्थों की कृति व योग्यता—पूज्यपाद स्वामी का रचित एक वैद्यक शास्त्र भी है। वीतराग ऋषि संतों की छटा देखो, जैनाचार्य द्वारा रचित उसका ढंग, उसका क्रम सब अपूर्व मिलेगा और साथ ही बड़ी विशेषता जैनाचार्यों की यह रही कि उन्होंने जो कुछ कहना था, सीधा सरल शब्दों में बताया है। शब्दों के आडम्बर में उनकी रूचि नहीं थी। शब्दों के आडम्बर के ज्ञाता तो बहुत ऊँचे रहे किन्तु प्रयोग नहीं किया करते थे। कैसे जानें कि उनका शब्दशास्त्र महान् था ? तो जैसे अनेक रचनाएँ करने के बाद भी जो योग्य और शब्दशास्त्री होते हैं वे कोई छोटी रचनाएँ ऐसी भी कर देते हैं जिस में शब्दज्ञता की महिमा प्रकट हो। पूज्यपाद समन्तभद्राचार्य का रचित एक जैन स्तोत्र है जिसमें किसी-किसी श्लोक में त व न ऐसे दो अक्षरों के सिवाय और कोई अक्षर नहीं। बड़े भारी श्लोक बना डाले। इतनी विद्वत्ता उनमें होते हुए भी दर्शनशास्त्र सिद्धान्तशास्त्रों में सरल शब्दों का प्रयोग किया है। उनका लक्ष्य था जगत् के जीव अपने हित की बात को पहिचान लें, इतना ही तो प्रयोजन है शास्त्रों का।

रचियता का एक सैद्धान्तिक पारिभाषिक ग्रन्थ—सर्वाथसिद्धि नाम का एक ग्रन्थ है। पंडितजनों के द्वारा वह विदित ही है। सब परिभाषा और संक्षेप से प्रयोजन की बात कही जाना यह सब बड़ी ऊँची विद्वत्ता को प्रकट करती है। विद्वज्जन समझते ही हैं। उनकी रचनाएँ ऐसी बहुत सी हैं पर कोई जमाना था जबकि द्वेषवश आततायीजनों के द्वारा वह साहित्य जला दिया गया और अब भी जो साहित्य बचा वह भी साहित्य में अपना एक अलग स्थान रखता है। भले ही इस जैनधर्म के अनुयायी प्राय: करके व्यापारीजन हैं, उन्हें परवाह नहीं है कि क्या होना चाहिए, देश में विदेश में कहां क्या है ? नहीं है शिक्षा और साहित्य की अभिरूचि इस कारण से साहित्य शास्त्र बन्द पड़े हुए हैं, किन्तु कोई निष्पक्ष विद्वान् सर्वसाहित्यों को देखे तो यह कह सकता है कि जैन साहित्य के बिना संसार का साहित्य अधूरा है।

साहित्यसंग्राहिका रूचि का परिणाम—पूर्व समय में यह परम्परा थी जैन समाज में कि जगह-जगह साहित्य का अधिक संग्रह रखना। वहाँ यह बात तब नहीं निरखी जाती थी कि हमारे यहाँ इनका पढ़ने वाला ही नहीं है, क्या करना है ? इसकी अपेक्षा नहीं रख करते थे पहिले, किन्तु जैसे मन्दिर का शौक है इसी प्रकार शास्त्रों के संग्रह की इतनी अधिक अभिरूचि थी कि जगह-जगह शास्त्रों के भण्डार रहा करते थे। अपने वश भर किसी शास्त्र की कमी नहीं रखते थे। उसका ही फल आज यह है कि अनेक ग्रन्थ जला दिए जाने पर भी बहुत से शास्त्र आज भी उपलब्ध हैं।

मंगलाचरण में ज्ञान, मार्ग, भक्ति प्रकाश—पूज्यपाद स्वामी इस ग्रन्थ के आरम्भ में यह मंगलाचरण

कर रहे हैं। मंगलाचरण क्या है ? इस मंगलाचरण के शब्दों में दृष्टि तो दो। भक्ति, ज्ञान, मार्ग सबका इसमें समावेश है। जिस पुरूष के द्वारा यह आत्मा ही जाना गया है और अन्य पदार्थ अन्य रूप से ही जाना गया उस अविनाशी अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध आत्मा को नमस्कार हो। इतने ही तो शब्द हैं। इसमें प्रथम पंक्ति में यह बता दिया गया है कि आत्मा को आत्मा ही जानना और पर को पर जानना, यही मुक्त होने का उपाय है। मोक्ष का उपाय बता दिया-निज को निज पर को पर जान, फिर दु:ख का नहीं लेश निदान। इसमें क्या है इसकी परिभाषा बहुत अन्तर में ग्रहण करो। यह देह है, वह मैं आत्मा नहीं हूँ, इस देह के अन्दर जो खटपट हो रही है वह मैं आत्मा नहीं हूँ। विकल्प, यहाँ वहाँ के ख्याल, राग, द्वेष, विरोध, मोह, काम, क्रोधादिक वे सब मैं आत्मा नहीं हूँ। मैं तो शाश्वत अहेतुक स्वरूपसत्ता मात्र चित्स्वभाव हूँ। इस स्वभाव को छोड़कर अन्य जितने भी तत्त्व हैं, पदार्थ हैं वे सब पररूप से जान गए। ऐसा भेदविज्ञान होना वह मोक्ष का मार्ग है।

मोक्षस्वरूप—भैया ! मोक्ष है। किस स्वरूप ? अविनाशी अनन्त ज्ञानरूप। यही मोक्षमार्ग है। मोक्ष नाम स्थान विशेष का नहीं है। भले ही मुक्त जीव लोक के अंत में बस रहे हैं। इस कारण उसे मोक्ष स्थान कहा जाता है, पर मोक्ष स्थान में पहुंचने के कारण वह भगवान् हो या निराकुल हो यह बात नहीं है किन्तु अपने स्वरूप की विशुद्धता के कारण वह भगवान् है और निराकुल है। जिस स्थान पर प्रभु रहता है उस ही स्थान पर अनन्त निगोद जीव रहते हैं। कोई-कोई तो यों कहते हैं कि यहाँ के निगोद से वहाँ के निगोद कुछ तो सुखी होंगे, उनके दु:खों में कुछ तो कमी होगी क्योंकि वे सिद्ध भगवान् के प्रदेशों में लोट रहे हैं। पर स्थान के कारण निराकुलता और प्रभुता नहीं होती है। जैसे यहाँ के निगोद दु:खी हैं उस ही प्रकार वहाँ के निगोद दु:खी हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि यहाँ के निगोद जीव एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करते हैं तो शायद वहाँ ९ बार ही करते हों। वहाँ उनके क्लेश में कुछ कमी हो ऐसा नहीं है। आत्मा का क्लेश परिणमन आत्मा की योग्यता और उपाधि के अनुसार हुआ करता है।

मोक्ष की आत्मस्वरूपता—मोक्ष तो अविनाशी अनन्त ज्ञानस्वरूप है। अनन्त का अर्थ है असीम। अविनाशी असीम ज्ञानस्वरूप मोक्ष है। मोक्ष और मुक्ति कोई भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। मोक्ष में मुक्ति रहती है यह केवल औपचारिक कथन है। जीव स्वयं मोक्ष है, स्वयं मोक्षस्वरूप है और वह मोक्ष है अविनाशी असीम ज्ञानमात्र का प्रवर्तन चलना। ऐसा जो शुद्ध आत्मा है उस शुद्ध आत्मा का इस मंगलाचरण में नमस्कार है।

मोक्ष और संसार की विरूद्धता—मोक्ष और संसार ये दोनों विरूद्ध अवस्थाएं हैं। यह जीव अनादिकाल से मोहमदिरा पिये हुए अपने सत्यस्वरूप को भूल रहा है। जब अपने सत्य सहजस्वरूप को भूल गया तो चूंकि आत्मा में ऐसी प्रकृति है कि किसी न किसी रूप अपने को अनुभव करेगा ही। तो जब स्वयं स्वयं के ध्यान में नहीं रहा तो परपदार्थ को आत्मरूप से अंगीकार करने लगा। अंगीकार का मतलब

है अपने अंगरूप बना लेना और स्वीकार का अर्थ हैं उसे पूर्णस्वरूप बना लेना। यों अनादिकाल से विपरीत अभिप्रायवश परपदार्थ को अपना हितकारी मानता आया है और अपना उपकारी जो ज्ञान उपयोग है उसे अहितकारी मानता आया है। क्या करें, जैसे पित्त ज्वर वाले को मीठा भी भोजन उसे कड़वा लगता है क्योंकि उसकी जिह्वा इस ही तरह की योग्यता वाली हुई है। इसी प्रकार अज्ञान ज्वर वाले को, मोहज्वर वाले को ज्ञान और वैराग्य जैसा मधुर आहार कटुक लगता है।

जीवों की मूलभावना—भैया ! यद्यपि संसार के समस्त जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं तथा जितने भी वे उपाय करते हैं वे सुख पाने के लिए और दुःख दूर करने के लिए करते हैं, किन्तु वास्तविकता का पता न होने से वे अपने उद्यम में सफल नहीं होते हैं।

मर्म परिचय बिना ज्ञानियों की नकल में विडम्बना—ललितपुर के पास की घटना है, गुरूजी सुनाते थे ४ बजाज ललितपुर कपड़ा लेने के लिए चले घोड़े लेकर। रास्ते में अँधेरा हुआ, रात हुई तो जंगल में ही ठहर गए। जाड़े के दिन थे, तो जाड़ा कैसे दूर करें इसके अर्थ उन पुरूषों ने उद्यम किया। उस उद्यम को पेड़ पर बैठे हुए बंदरों ने देख लिया। उन्होंने क्या किया था कि खेतों से जरौंटा आदि बीनकर एक जगह जमा किया था और फिर माचिस से आग लगाकर खूब हाथ पैर पसार कर तापा था। इस तरह से अपना जाड़ा मिटाया था। यह सब उद्यम पेड़ पर चढ़े हुए बंदरों ने देख लिया। बजाज तो अब चले गए। दूसरी रात आयी, ठंड बहुत थी। बंदरों ने सोचा कि हमारे ही जैसे हाथ पैर तो उनके भी थे जिन्होंने अपना जाड़ा मिटा लिया था। हम उनसे क्या कम हैं ? बल्कि एक पूछ ज्यादा ही तो है। सो ऐसा ही अपन काम करें जैसा उन्होंने किया था।

सब बंदर आसपास के खेतों में दौड़ गए और बाड़ी जरौंटा आदि बीनकर इकट्ठा कर दिया। फिर वे आपस में कहने लगे कि जाड़ा तो अभी मिटा ही नहीं। तो एक बंदर बोला कि अभी इसमें लाल चीज तो पड़ी ही नहीं है। जाड़ा कैसे मिट जायगा ? उन आदमियों ने तो कोई लाल-लाल चीज लाने के लिए सब तरफ दौड़ें। वहाँ जुगनू खूब उड़ रहीं थीं, सो उन्हें पकड़कर उन बाड़ियों में, जरौंटों में झोंक दिया। अब भी जाड़ा नहीं मिटा। फिर सलाह की कि वे इसमें फूँक रहे थे, अपन भी इसको फूँकें। वे सब बंदर उसको मुख से फूँकने लगे। इतना करने पर भी जब जाड़ा न मिटा तो उनमें से एक बोला कि अरे सारे काम तो कर लिए पर अभी एक आखिरी काम तो बाकी ही है। वे हाथ पैर फैलाकर बैठे थे, अपन भी ऐसा ही करें। वे सब हाथ पैर फैलाकर बैठ गए, मगर क्या जाड़ा मिटा लिया ? अरे जाड़ा मिटाने का जो साधन है आग उसका तो उन्हें ज्ञान ही न था। इसी से सारे उद्यम करके भी वे जाड़ा नहीं मिटा सके।

सकलसंकटमोचनी बूटी ज्ञानदृष्टि—सच जानो भैया ! अपने ज्ञान का स्वरूप अपने ज्ञान में जिस समय आए उस समय इसके संकट नहीं रहते। उपेक्षारूप धर्म में वह सामर्थ्य है। जरा करके ही देख लो। किसी से राग बढ़ा था, पहिले दुःखी हो रहा था, कोई घटना ऐसी हो गयी कि सोच लिया कि जाने दो। जो कुछ हो सो हो, क्या मतलब ? उपेक्षा की कि संकट उसके हल्के हो जाते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ज्ञान में आए। वहाँ परमउपेक्षा रहती है। उस स्थिति के आनन्द को कौन बता सकता है ? उस ज्ञानस्वरूप के ज्ञान बिना शांति के लिए अन्य समस्त भी यत्न कर डालें, धर्म के नाम पर ही सही, बड़ा तप, बड़ा व्रत, बड़ा भेद, बड़ी चीजें भी कर डालें पर शांति आनन्द और कर्मक्षय का साधन तो शरीर की चेष्टा नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूप की दृष्टि बने यही हैं उन सब हितों का साधन। वह ही एक छोड़ दिया जाए, उसको ही ताख में धर दिया जाय और अनेक श्रम किए जायें तो उन श्रमों से सिद्धि नहीं होती है।

उन्मुखता में समक्षगत की निकटता—यह समाधितंत्र ग्रन्थ समता परिणाम उत्पन्न करने के लिए अद्भुत प्रयोग बतायेगा। जिसके मंगलाचरण में इतनी छटा इतनी किरणों का दर्शन हो गया है उस ग्रन्थ के आगे जो वर्णन चलेगा वह तो एक अपने-अपने घर की ऐसी बात कही जा रही है कि उसके अपनाने में विलम्ब न होना चाहिए। फिर भी नहीं अपना सकते। अपना नहीं सकते तो दृष्टि तो उस ओर होनी ही चाहिए। एक कहावत है—सांमर दूर समरिया नीरी। कोई समरिया का बनिया था, वह सांमर पर नमक लेने गया। वहाँ व्यापार करके जब लौटा तो समझो कोई, पाँच सात सौ मील का अन्तर था समरिया में और सांमर में। लेकिन जिस समय सांमरनगर से मुँह फेरा और समरिया को चला तो वह कहता है कि अब सांमर दूर समरिया नीरी। जिस ओर मुख है, जिस ओर दृष्टि है वह नीरा है। शायद इस जगत् में यह चर्चा चल रही होगी कि भिण्ड दूर इटावा नीरा। प्रयोजन यह है कि जहाँ को मुख किया, जहाँ को चले वह निकट माना जाता है, क्योंकि गति का फल जो होगा उसको नैगमाय से, इस समय भी कह रहे हैं संसार से यदि मुख मोड़ लिया और मुक्ति की ओर मुख करके चल दिया तो चाहे वह अविरत सम्यक्त्व अवस्था भी हो तो भी उसका संसार दूर और मोक्ष नीरा है।

भावनमस्कार—ऐसा मोक्ष का उपाय और मोक्ष का वर्णन करते हुए आचार्यदेव उस विशुद्ध सिद्ध आत्मस्वरूप को नमस्कार कर रहे हैं नमस्कार भी अनेक ढंगों से है। उन सब नमस्कारों में भाव नमस्कार सर्वोच्च नमस्कार है, अर्थात् हाथ भी न हिले सिर भी न हिले, बात भी न बोले किन्तु सिद्धस्वरूप का अपने आपके ज्ञान में अनुभवात्मक परिणमन हो अथवा निज सिद्ध स्वरूप का अपने में ज्ञानानुभवरूप परिणमन हो वह सब नमस्कारों में प्रधान अभेदभाव नमस्कार है। उसकी दृष्टि रखते हुए नमस्कारात्मक विकल्प है तो वह मन, वचन, काय सम्बंधी क्रिया करें यह द्रव्य नमस्कार है उन सिद्ध आत्मावों को नमस्कार हो।

श्लोक 2

जयंती यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितु:।
शिवाय धात्र सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नम:।।२।।

संकलात्मदेव—यह समाधितन्त्र का दूसरा छंद है। पहिले छंद में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया था और इस छंद में अरहंत भगवान् को नमस्कार किया जा रहा है। उन शरीर सहित परमात्मा को नमस्कार हो। शरीर सहित परमात्मा हैं। अरहंत और शरीर रहित परमात्मा हैं सिद्ध। तो देव में दोनों आये—अरहंत भी देव हैं और सिद्ध भी देव हैं और गुरु में आते हैं तीन, आचार्य, उपाध्याय और साधु। देव और गुरु का समुदाय परमेष्ठी कहलाते है। उन अरहंत प्रभु को नमस्कार है, जो बोलते नहीं हैं, पर उनकी दिव्यध्वनि बिना चाहे खिरती है। कैसी प्राकृतिक लीला है कि अरहंत भगवान बोलते नहीं हैं, जानते अवश्य हैं। जैसे यहाँ कोई प्रश्न करता है तो जवाब दिया जाता है, ऐसा प्रश्नोत्तर भगवान् नहीं किया करते हैं। उनकी तो समय पर उनकी ओर से दिव्यध्वनि खिरती रहती है। वहाँ प्रश्न करने वाला प्रश्न करता जाय, पर भगवान् प्रश्नकर्ता को नहीं देखते हैं और न भगवान् वहाँ जवाब देते हैं। ऐसा ही मेल है प्रकृति का और भव्य जीवों के भाग्य का कि समय पर उनकी दिव्यध्वनि खिर जाती है।

नियोग—जैसे यहाँ भी करीब-करीब ऐसी पद्धति है कि समय पर प्रवचन हो तो अच्छा चलता है और हो समय पर ही। कोई आये १२ बजे दोपहर को, और कहे कि महाराज थोड़ा प्रवचन कर दो तो वह बात नहीं आती है और उनका तो अलौकिक, विलक्षण बहुत ही ऊँचा काम है। समय आया और दिव्यध्वनि झरने लगती है। उस दिव्यध्वनि का सब श्रोतावों को ज्ञान हो ऐसा तो है नहीं। ध्वनि का ज्ञान गणधर देवों को है, उनके इशारे वह गणधर देव ही समझते हैं। पर जैसे कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि बड़े पुरूष को देख लेवें तो बहुत सी शंकाएँ तो देखे ही दूर हो जाती हैं, और फिर अरहंत का जहाँ अविरल धारा से उपदेश चलता है, दिव्यध्वनि से वह सुनने को भी मिले तो साक्षात् प्रभु के दर्शन और प्रभु की दिव्यध्वनि का श्रवण जब दोनों बातें मिल गयी हैं तो उनकी शंकाओं का समाधान स्वयमेव हो जाता है।

भारती विभूति—भगवान् की भारती को विभूति बताया है। जगत् में संत पुरूषों की, अरहंत पुरूषों की जो वाणी है वह विभूति है। उसके सदृश्य और क्या विभूति होगी ? एक साधारण नेता का व्याख्यान कराना होता है तो कितना बड़ा मण्डप सजाते हैं, कितना श्रृंगार करते हैं, कितना श्रम करते हैं, लोगों को जुड़ाते हैं और वह बड़ा पुरूष आध घण्टा, पौन घंटा बोलकर चला जाता है। तो बतावो उनका आध घण्टा, पौन घण्टा का व्याख्यान यहाँ इतना मूल्य रखता है, इतना श्रम, श्रृंगार होता है, मण्डप बनता है, तो

अरहंत भगवान् की जहाँ दिव्यध्वनि सुनना है, वहाँ की तो रचनाएँ मनुष्यों के वश की ही नहीं हैं। वहाँ तो देव और इन्द्रों के द्वारा रचनाएँ होती हैं। वह भारती भी बड़ी विभूति है तब तो उस उपदेश के लिए इतना श्रम, इतना व्यय लोग प्रसन्नता से किया करते हैं।

पूर्वापर नमस्कार—इस प्रकरण में न बोलते हुए भी जिस प्रभु की भारतीरूप विभूति बिना चाहे जयवंत प्रवर्तती है उस अरहंत देव को नमस्कार किया गया है। पूर्व श्लोक में अपने मूल प्रयोजन को ध्यान में रखकर कहा गया है कि मैं इस शुद्ध आत्मा को नमस्कार करता हूँ। जिसने आत्मा को आत्मारूप जाना और पर को पररूप जाना और इस जानन के फल में अविनाशी असीम ज्ञानानन्द भोग रहे हैं, ऐसे विशेषणों सहित सिद्ध को नमस्कार किया गया था। ज्ञानवान् पुरूष विशेषण भी बोलता है तो अपने प्रयोजन की सिद्धि माफिक बोलता है। जैसे यहाँ लौकिक पुरूष धनी पुरूष को यदि कुछ कहेगा तो ऐसा विशेषण लगाकर कहेगा जिससे कुछ अर्थ प्रयोजन सिद्ध होता है और त्यागी को कोई विशेषण बोलेगा तो ऐसे विशेषण बोलेगा जिससे धर्मपालन का प्रयोजन पूरा होता है। तो सिद्ध का चूंकि वह आदर्शमात्र है, वे हमारे किसी काम नहीं आते, वे तो लोक के शिखर पर आनन्दरसलीन हुए अपना परिणमन करते हैं, तब उनको नमस्कार किया गया है उनका आदर्श बताकर और वे किस उपाय से ऐसे सिद्ध बने हैं उस उपाय को विशेषित करके पुकारा था। यहाँ अरहंतदेव के वंदन के प्रकरण में नमस्कार करते हुए विशेषण दे रहे हैं कि जिसकी अलौकिक दिव्यध्वनि बिना चाहे, बिना बोले जयवंत प्रवर्तती है।

सुखार्थिता के पूरक अरहंत भगवान्—देखो सभी लोग सुख चाहते हैं। सुख मिलता है यथार्थ ज्ञान से। यथार्थ ज्ञान होता है शास्त्रों के अध्ययन से और शास्त्र आए हैं दिव्यध्वनि से और दिव्यध्वनि आयी है अरहंत भगवान् से। इस कारण जिसे सुख चाहिए, जिनेन्द्रदेव के मार्ग में लगना है उसको अरहंत भगवान् का शरण लेना चाहिए। ऐसे ये अरहंतदेव शिवस्वरूप हैं, कल्याणमय हैं, आनन्द के निधान हैं और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में लगाते हैं इसलिए वे धाता हैं, ब्रह्मा हैं और उनका ज्ञान पूर्ण विशुद्ध समस्त लोक में स्पष्ट झलकता है इस कारण वे सुखस्वरूप हैं।

अपनी चर्चा—यह चर्चा दूसरे की नहीं है, खुद की है और ऐसे उत्कृष्ट सत्यस्वरूप को भूल गए हैं इसलिए आज यह दुर्दशा है। अरे ! मनुष्य हुए तो क्या है ? यदि मोह ममता में ही रंगे हैं तो पशुवत् हैं। यह सब चर्चा जहाँ भगवान् के स्वरूप की की जा रही है। वहाँ यह ध्यान में रखो कि यह हमारी चर्चा है, दूसरे की नहीं है। जैसे कोई खोटी चर्चा किए जाय तो जितने आदमी बैठे हैं वे सब सोचेंगे कि यह हमारा लक्ष्य करके बोल रहे हैं। कैसे भाषण में अगर परस्त्रीगमन के त्याग का उपदेश किया जा रहा है कि परस्त्री सेवन मत करो और उसका दोष दिखाया जा रहा है तो अगर १०, २० जितने परस्त्रीगामी बैठे हों वे सबके सब यही सोचेंगे कि आज महाराज ने देखो हमारा लक्ष्य करके यह बात कही है, और कहो महाराज को सताने पर भी उतारू हो जाय कि हमको क्यों ऐसा कहा है ? तो जब कोई अच्छी बात कही

जा रही हो, अरहंत का, सिद्ध भगवान् का स्वरूप, उनके गुणों की बात कही जा रही हो तो भी हम सबको वह बात भी अपने पर घटा लेनी चाहिए।

प्रभु की शिवस्वरूपता—भैया !खोटी बातें तो किसी किसी में हैं और यह स्वभाव वाली बात सबमें है। तो यह भगवान् की चर्चा है या हम आपकी खुद की बात है कि ऐसे महान् हैं हम आप, और ऐसे सुख समुद्र हैं हम आप। ज्ञानघन हैं हम आप। दु:खों का कुछ काम नहीं है। क्लेश अंश भी नहीं हैं, कृतार्थ हैं, शिवस्वरूप हैं, कुछ करने को बाकी नहीं रहा। ऐसी अलौकिकता की बात प्रभु की गायी जा रही है तो समझो कि हमारी बात कही जा रही है। वह भगवान् शिव है, असीम अशुद्ध निर्मल ज्ञान आनन्दमय है। अरे ऐसे ही तो हम आप हैं। व्यर्थ का मोह मचा रखा जिससे कि इतनी बड़ी बात का खोज मिटा दिया। व्यर्थ की बातों में असली बात खो दी। बतावो इस ४०-५० वर्ष की जिन्दगी में अब तक मोह किया पर आज हाथ में क्या है ? कौन सा लाभ रक्खा है कि जिससे कहा जाय कि हां हमने इतनी बात तो बढ़िया बना ली। जैसे धनसंचय करते हैं तो वहाँ यह दिखता है कि लो अब हो गए १२००) चलो अब और थोड़ा कर लेंगे, अब १६००) हो गए। तो जैसे, वहाँ दिखता है कि हमने इतनी विभूति पा ली, तो मोह करके बतावो कि कितना क्या पा लिया ? तो व्यर्थ के मोह में इतनी बड़ी हानि कर रहे हैं, इसका ख्याल इस मोही जीव को नहीं होता।

प्रभु की सुगमस्वरूपता—प्रभु सुगम है, उत्तम अवस्था वाला है, उत्कृष्ट उनका विकास है, ऐसा ही हम आपका स्वभाव है, उसका आदर नहीं करते तो भिखारी बने हुए हैं। न अपन ज्ञानधन खोता, तो भिखारी क्यों बना होता ? एक ही बात है। आशा किए जा रहे हैं, किसकी ? दूसरे हाड़ मांस चाम की, पर्याय की। बतावो यह मोही जीव आत्मा से प्रेम करता है या शरीर से, एक निर्णय तो बतावो। शरीर से प्रेम करता है यदि मोही तो जब आत्मा चला जाता है फिर क्यों नहीं शरीर से प्रेम करता। तो इससे ही सिद्ध हुआ कि शरीर से तो प्रेम किया नहीं मोही ने और क्या आत्मा से प्रेम किया ? आत्मा को तो जानता ही नहीं। और आत्मा तो सब एकस्वरूप हैं। तो किस आत्मा से प्रेम करे ? तो यह आत्मा से भी प्रेम नहीं करता। फिर क्या कर रहा है ? कुछ समझ में नहीं आता है। न आत्मा से मोह करता, न शरीर से मोह करता और कर रहा है मोह, बिगाड़ रहा है सर्वस्व कैसी एक बेमेल बात बन रही है ? फिर उसी-उसी के सब हामी बन रहे हैं। बुरा कौन कहेगा ? चोर-चोर ही जहाँ रहते हों वहाँ बुरा कहने वाला कौन है ? सभी चोर बैठे हैं। कौन बुरा कहे कि तू चोर है। सभी मोही बैठे हैं संसार में, कौन किसको कहे कि तू व्यर्थ का काम कर रहा है। न शरीर से प्यार करता है न आत्मा से प्यार करता है और कुछ धुन कर ही रहा है। तो एक इस ज्ञानघन आत्मस्वरूप को भूल जाने से यह अपने आपको ऐसी दुर्दशावों में लिए जा रहा है।

प्रभु की विष्णुरूपता एवं जिनरूपता—भगवान् अरहंतदेव की चर्चा है जिनकी मूर्ति बनवायी जाय, जिसमें अरहंत की स्थापना की है। अरहंत भगवान् की चर्चा क्या है, वह है अपनी चर्चा। प्रभु विष्णु है, सर्वत्र व्यापक है। भगवान् का ज्ञान लोक-अलोक सबमें फैला हुआ है। प्रभु के ज्ञान में कुछ भी बात अज्ञात नहीं है। ऐसे ये अरहंतदेव हैं और जिनस्वरूप है। रागादिक दोषों को विषयकषायों को जिसने जीत लिया उसे जिन कहते हैं। प्रभु अरहंतदेव जिन हैं, अभी उनके शरीर लगा है, पर भगवान् हो गए हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य उनके प्रकट हो गया है, उन्हें सकलात्मा कहते हैं। जिसे कोई सद् गुण ब्रह्म कहते हैं। उनकी सदृशता कुछ मिलायी जा सकती है तो कहना चाहिये सगुण, साकार, सशरीर तो हुए अरहंत और निर्गुण, निराकार, अशरीर हुए सिद्ध।

नमस्कार की पूर्वापरता में प्रयोजन—यहां सर्वोत्कृष्ट अवस्था होने के कारण प्रथम सिद्ध को नमस्कार किया है और अब यहाँ अरहंत को नमस्कार किया जा रहा है। कहीं अरहंत को पहिले नमस्कार किया गया है, बाद में सिद्ध को नमस्कार किया है। वहाँ दृष्टि है उपकार की। अरहंतदेव के द्वारा यह मोक्षमार्ग चला, दिव्य उपदेश हुआ लोगों को दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। इस कारण अरहंतदेव परम उपकारी हैं और इस नाते से अरहंत को पहिले स्मरण किया, फिर पीछे सिद्ध को स्मरण किया और कोई पुरूष गुरु का ही स्मरण करले पहिले और पीछे अरहंत सिद्ध का स्मरण करले तो यह भी सम्भव है, उल्टा नहीं है। यह तो भक्ति की बात है। जिससे साक्षात् उपकार हो वह पहिले ध्यान में आये। अरहंत और सिद्ध का राज तो गुरु ने बताया। जैसे लोग कहते हैं-'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पांय। बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियो बताय।।' तो शुद्ध आशय हो तो कैसा ही कुछ कर लो, उसमें कोई अन्तर नहीं आता है। यहाँ पहिले सिद्ध को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् अरहंतदेव को नमस्कार किया जा रहा है।

प्रभुदेह की परमौदारिकता—ये अरहंतदेव सशरीर हैं। अरहंतदेव का शरीर हम आपकी तरह क्षुधा से पीड़ित, जरा देर से प्यास लग जाय, थक जाय, पसीना निकले, बदबू निकले ऐसा नहीं है। उनका भी शरीर ऐसा ही था जब अशुद्ध अवस्था में थे। और जब उन्हें केवलज्ञान हुआ तो उस अलौकिक अतिशय के प्रसाद से उनका शरीर परमौदारिक हो गया। उनके क्षुधा, तृषा नहीं है। थोड़ी बात तो यहीं देख लो, प्राय: खूब खाने वाले, दो चार बार चाट पकौड़ा जो चाहे खूब खायें उनका शरीर और एक तपस्या करने वाले साधुजन कई दिन तक उपवास करते हैं, किसी दिन अल्प आहार ले लिया, उनका शरीर आपको प्राय: अच्छा मिलेगा। खूब खाने वाले लोग, कई बार खाने वाले लोग पसीने से लथपथ हो जाते हैं, बदबू आने लगती है, उनके मल मूत्र में भी बदबू आती है, और उपवास करने वाले लोग कदाचित् अल्प आहार करलें तो उनके शरीर में बदबू नहीं आती। और तो जाने दो, मलमूत्र में भी वैसी बदबू नहीं रहती।

उत्तमदेह की ऋद्धिसमृद्धता—जब आत्मानन्द जिनके अधिक रहता है और तपस्या भी बहुत चलती है

उनके तो पसीना मल मूत्र, उनके वचन उनकी दृष्टि सब औषधिरूप बन जाते हैं। उनके शरीर से स्पर्श की हुई हवा जिस रोगी के लग जाय उसका रोग मिट जाता है। फिर बतावो अरहंत भगवान् जिसके चारों घातिया कर्ममल पाप दूर हो गए हैं, जिसने अपने ज्ञान से द्रव्यगुण पर्याय सारे जाना, तीन काल सम्बंधी सब कुछ जाना और अनन्त दृष्टि है, जिसको अनन्त अनाकुलता अव्याबाध परम सुख है ऐसे अरहंत भगवान् का शरीर परमौदारिक होता है इसमें क्या सन्देह है ? ऐसे दिव्य तेजोमय परमौदारिक शरीर में रहने वाले जो परमात्मा हैं उन्हें अरहंत भगवान् कहते हैं।

सकलनिकल परमात्मरूपता—देवता के विषय में अरहंत सिद्ध देव जैसी यह जोड़ी सब जगह प्रसिद्ध है। कोई लोग कहते हैं अल्ला खुदा। यहाँ कहते हैं अरहंत और सिद्ध। कोई कहते हैं सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म। कोई कहते हैं साकार परमात्मा और निराकार परमात्मा। ये सब जोड़ियां यह सिद्ध करती हैं कि कोई परमात्मा होता है तो पहिले शरीर सहित है, पीछे शरीर रहित हुआ तो वह दोनों विधि में परमात्मा हुआ। यों ही मान लो कि अल्ला तो है अरहंतबोधक और खुदा है सिद्धबोधक। अर्थ कैसे निकला ? अल्ला शब्द निकला है संस्कृत के अल्य: शब्द से। अल् धातु से बनता है अल्य:। जो अरहंत शब्द का बाधक है। और खुदा मायने खुद, जो खुद रह गया है, अकेला रह गया है वह हुआ खुदा। खुदा से सिद्ध का रूप समझ लो। सगुण और निर्गुण अरहंत सिद्ध, साकार निराकार में अरहंत सिद्ध। तो यहाँ निराकार स्वरूप को पहिले श्लोक में नमस्कार किया है और इसमें साकार स्वरूप को नमस्कार किया जा रहा है।

श्लोक 3

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्त: करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।।३।।

रचनासंकल्प—इस ग्रन्थ के रचियता पूज्यपाद स्वामी यहाँ यह संकल्प कर रहे हैं कि शास्त्र से, अनुमान से और अपनी शक्ति के अनुसार जैसा अंत:करण से समाधान किया है उस निर्णय से इस विविक्त आत्मा को भली प्रकार देख करके कैवल्य सुख की चाह करने वाले भक्त जीवों के लिए इस शुद्ध आत्मा को मैं कहूँगा।

भैया ! ज्ञान करने के तीन प्रकार हैं—शास्त्र से ज्ञान करें, अनुमान से ज्ञान करें और अपने अनुभव से ज्ञान करें। जैसे जितना ज्ञान विद्यार्थी लोग पाते हैं उसमें भी ये तीन बातें पायी जाती हैं। एक तो पुस्तकों के आधार से अमेरिका, रूस, जापान आदि का सारा परिज्ञान जो उन्हें अच्छी तरह है वह है नक्शों के बल से और पुस्तकों के बल से। कभी देखा नहीं है कि अमेरिका कहां है और चौथी कक्षा, छठी

कक्षा के लड़के चर्चा करते हैं कि अमेरिका इस जगह है। इतनी आबादी है, ऐसे लोग हैं, पर क्या उन्होंने देखा है ? पुस्तकों के आधार से, नक्शों के आधार से उन्हें यह ज्ञान होता है। यों ही धर्म का भी ज्ञान पुस्तकों के आधार से होता है। पहिले तो यह ही जानते हैं शास्त्र के द्वारा कि जीव है, यह कौन ? शरीर से निराला जीव है। लोकपरम्परा में तो अनेक लोग कहते हैं कि देह से न्यारा है जीव यह तो छोटे-छोटे लोग भी कहते हैं। वह सब श्रुत का ही आधार है।

युक्ति विज्ञान वैभव—भैया ! अब आगे देखिये—आगम से जो अधिक विश्वास में निर्णय करा देने वाली चीज है वह है युक्ति। एक तो शास्त्र में लिखी बात है उससे जाना और उस ही चीज को फिर युक्ति से जाना, तो उसका ज्ञान और विशद हुआ कि नहीं ? साफ हो गया। पहिले तो ऐसा ही समझते थे कि पुस्तकों में लिखा है इसलिए समझना चाहिए। पर कोई युक्ति ही मानों बैठ गयी तो अब युक्ति से जो ज्ञान होता है वह ज्ञान और ज्यादा निर्मल हो गया। जब युक्ति के ज्ञान के बाद फिर अपना अनुभव भी कहने लगे कि बिल्कुल यही बात है तो ज्ञान और निर्मल होता है।

अनुभवज्ञान वैभव—भैया ! ऐसा हो इस आत्मा के बारे में पहिले तो शास्त्र द्वारा ज्ञान हुआ। जो आचार्य इसके रचियता हैं वे कह रहे हैं कि मुझे इस भिन्न आत्मा का ज्ञान जो सहज ज्ञायकस्वरूप है वह सबसे भिन्न है, उसका ज्ञान शास्त्र से हुआ है अर्थात् अनेक प्रकार के आगमों के अभ्यास से इसमें आत्मतत्त्व सम्बंधी बात पायी है, और फिर इतना ही नहीं, चिन्हों से भी हमने पहिचान ली कि यह भिन्न आत्मा चैतन्यस्वरूप है और आनन्द का निधान है, युक्तियों से भी जाना, और इतना ही नहीं, अनुभव से भी पहिचाने। धर्म और धर्म की वृत्तियां करके जब यह अनुभव में आ गया कि पाप करने से दुःख होता, अज्ञान से क्लेश होता, किसी के बुरा विचारा तो आत्मा को क्लेश होता, जब अन्तर की खोटी परिणति से क्लेश जगा इतना समझ लेते हैं और जब धर्म करते हैं, शुद्ध विचार रखते हैं तो वहाँ शांति नजर आती है। दूसरे जीव सुखी हों इस प्रकार जब सबके सुखी होने की भावना रखते हैं तो वहाँ आनन्द प्रकट होता है। तो ऐसे अनुभव से भी इस आत्मा की बात पहिचानी गयी है।

आचार्यदेव की करूणा—आचार्यदेव को यह कहने की जरूरत क्यों पड़ी कि हमने आगम भी सीखा है और युक्तियों से भी ज्ञान किया है और अनुभव से भी पहिचाना है। यह कहने की आवश्यकता आचार्यदेव को इस लिए हुई कि वह ग्रन्थ लिख रहे हैं दूसरे जीवों को। वे दूसरे जीव यह तो विश्वास कर लें कि यह जो कुछ कहेंगे वह प्रामाणिक बात कहेंगे। तो बतावो कि चित्त में यह बात बैठाने के लिए कि आत्मा के बारे में जो बात कही जायगी वह यथार्थ होगी। ये श्रोता कैसे जाने ? मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि उन्हें यह बतायें कि हम अटपट बोलने वाले नहीं हैं किन्तु शास्त्र का भी अभ्यास किया है,

और युक्तियाँ भी अनेक इस आत्मा की खोज में सफल हुई हैं और अनुभव भी हमारा है, इससे जो कुछ कहूँगा वह परम्परा के अनुसार और यथार्थ कहूँगा। इस कारण तुम सब ध्यान पूर्वक इस आत्मा की बात सुनो। ऐसे ही इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में आचार्यदेव श्रोतावों के प्रति कह रहे हैं।

प्रस्तावना और समाधान—ग्रन्थ इस श्लोक के बाद शुरू होगा। यह प्रस्तावना का तीसरा छन्द है, अंत:करण में समाधान तब प्राप्त होता है जब वस्तुविषयक यथार्थ हल निकल आता है। किसी वस्तु के सम्बंध में जब तक उल्टा ज्ञान चलता है तो समाधान नहीं हो सकता। सही बात मालूम पड़े तो समाधान हो जायगा। यह आत्मा देह से न्यारा है, इतनी बात जानने के लिए वस्तुओं का समस्त स्वरूप जानना पड़ता है। यह ध्यान में आये कि यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ और समस्त परभावों से भिन्न हूँ, जो मेरा सहजस्वरूप है उसका जन्म-मरण करने का स्वभाव नहीं है, इस ज्ञायक स्वरूप भगवान् आत्मा का कार्य तो केवल जाननहार रहना और अनन्त आनन्द में मग्न रहना है। इसके अतिरिक्त और जितनी भी बातें हैं वे सब विपत्ति हैं। दु:खों का कारण नहीं होता उनका कारण परउपाधि है।

शास्त्रज्ञान व अनुभवज्ञान का मेल—भैया ! एक तो शास्त्र से जानकर अपने आत्मा की बात को अनुभव में उतारकर फिर शास्त्र की बात को प्रमाण करना, शास्त्र में जो लिखा है वह बिल्कुल ठीक है, इन दोनों बातों का परस्पर में सहयोग है। कभी हम शास्त्रों को पढ़कर जानकर अपनी आत्मा का विश्वास करते हैं और कभी आत्मा का अनुभव करके हम शास्त्र में लिखी हुई बातों का विश्वास करते हैं कि यह बात बिल्कुल ठीक है जैसा शास्त्र में लिखा है वैसा मेरे अनुभव में आया है इसलिए यह ठीक है और मेरे अनुभव में जो आया है वह शास्त्रों में भी मिल गया है इस कारण मेरा ज्ञान पक्का है, ऐसा विश्वास हो जाता है।

अनुकूल अनुभव की श्रेष्ठता—मोटे रूप में किसे विश्वास नहीं है कि यह आत्मा देह से भिन्न है। सब लोग जानते हैं और कुछ ऐसा देखा भी करते हैं कि मरने के बाद यह देह यहाँ ही रह जाता है और आत्मा और कहीं चली जाती है। इस कारण सबको यह विश्वास है कि शरीर से आत्मा जुदी चीज है। समयसार में ऐसा संकल्प करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य देव ने चार बातें कही हैं। आगम से, युक्ति से, गुरूवों की भक्ति के प्रसाद से और अनुभव से विविक्त आत्मा को कहेंगे। प्रथम परिज्ञान होता है शास्त्रों से उसका बोध आत्मा में स्पष्ट बैठता हुआ नहीं हो पाता है। एक विश्वास इस आधार पर जान लिया जाता है कि शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है और वह ठीक है, प्रमाणभूत है, शास्त्र की बात झूठ नहीं हो सकती- इस

विश्वास के आधार पर ज्ञान होता है और इससे विशेष परिज्ञान होता है। उस शास्त्र के साथ-साथ युक्ति का भी समावेश हो, शास्त्र से न मानकर युक्ति चलाए तो वह ज्ञान ठीक नहीं है। शास्त्र का विश्वास रखते हुए फिर उसकी युक्ति भी चलावे और उस युक्ति से जो बात जानने में आ जाय वह और प्रमाण होती है, और शास्त्र से भी जाना, युक्ति से भी जाना और गुरु सेवा के प्रसाद में, गुरूवों के वचन भी प्राप्त हुए, उनकी प्रसन्नता भी भक्त पर हुई, और वहाँ जो बात सुनने में मिले उससे जो ज्ञान होता है वह और दृढ़ और निर्मल होता है। शास्त्र से भी जाना, युक्ति से भी जाना और गुरूवों की उपदेश परम्परा से भी जाना, लेकिन अनुभव में न उतरे तो यह जानकर भी हमारा काम नहीं बना। वह अपने अनुभव में भी उतरना चाहिए।

अनुभव की स्पष्टता का एक व्यावहारिक उदाहरण—जैसे श्रवणबेलगोला में बाहुबली स्वामी की प्रतिमा है, उसे उस विस्तार से भी जान लिया कि ऐसी प्रतिमा है और चित्र देख करके युक्ति से भी जान लिया कि यह खास कैमरे से उतारा गया फोटो है। इतना विशालकाय, इतना पूरा होना चाहिए, इतने प्रमाण के हाथ होना चाहिए, यह जान भी लिया और जो उस बात के गुरु हैं याने जो देख आए हैं वे कहेंगे कि हमने देखा है, ऐसी मूर्ति है। जो चित्रों में आया है, जो पुस्तकों में लिखा है वह बिल्कुल सही बात है, तो उनसे भी जान लिया पर अभी तक अनुभव में बात नहीं उतरी। जब तक उस प्रतिमा का साक्षात् दर्शन नहीं कर लिया जाता तब तक उस रूप से जानने पर भी चित्त में ऐसा फिट नहीं बैठता—ओह ! यह है वह आज। वही पुरूष जब दर्शन करने जाता है, दर्शन कर लेता है तो उसे वे पुरानी तीन बातें दृढ़ता से याद आ जाती है। ओह ! यही है वह प्रतिमा जो पुस्तक में लिखा था, जो युक्ति से भी जाना था और देखने वालों के मुख से समझा था।

आत्मानुभव की स्पष्टता—इसी प्रकार इस आत्मा के सम्बंध में शास्त्रों में लिखा है कि आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, देह से न्यारा है, अमूर्त ज्ञानानन्द स्वामी है, और युक्तियों से भी जाना। चूंकि मरने पर देह यहीं रह जाता है, जीव चला जाता है, तो आत्मा इस देह से न्यारा है, बड़े-बड़े ऋषिसंत ज्ञानी पुरूषों की सेवा करके भी उनसे सुना है और उनकी मुद्रा से उनकी प्रकृति से पहिचानने में आया है। इतनी बात होने पर भी जब तक निर्विकल्प समाधि के ज्ञान में ज्ञानस्वरूप का ज्ञान होकर अनुभव में बात नहीं आती तब तक यह बात कुछ ऊपरी ऊपरी ढंग जैसी लगा करती है। हां है और जिस समय बाह्यपदार्थों का विकल्प तोड़कर किसी अन्य पदार्थ की कोई चिन्ता न रखकर केवल अपने ज्ञानस्वरूप को ही ज्ञान में

लेकर उसका अनुभवन होता है तो यह बात बिल्कुल दृढ़ निश्चित हो जाती है कि ओह यह है वह आत्मा जो अमूर्त ज्ञानस्वरूप है। यह है वह आत्मा जिसके सम्बंध में भी इसी प्रकार का स्वरूप लिखा है, जिसको हमने युक्तियों से भी बहुत बार जाना था। जिसके सम्बंध में गुरूवों के प्रसाद से हमें एक शिक्षा प्राप्त हुई थी, यह है वह ज्ञायक ज्ञानस्वरूप आत्मा, ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है।

प्रामाणिकता का प्रमाण—सो आचार्यदेव कह रहे हैं कि शास्त्र से, युक्ति से और अंत:करण के समाधान से भली प्रकार इस आत्मस्वरूप का निश्चय करके उन भव्य जीवों को मैं आत्मस्वरूप की बात ही कहूँगा। कोई कोई लोग तो अज्ञानवश अपनी शान की बात कहा करते हैं। जैसे दुकान में ग्राहकों से किसी चीज के बारे में खूब प्रशंसा करके बोला करते हैं—यह असली माल है और अब दाम और भी तेज हुए जाते हैं, हम बहुत सस्ता दे रहे हैं, बहुत मजबूत है, हम एक ही बात कहते हैं, इसमें मुनाफा नहीं ले रहे हैं, अनेक बातें कहते हैं। तो यहाँ अज्ञान से और मोह से अपनी बड़ाई की बात की जा सकती है, किन्तु ज्ञानीपुरूष अज्ञानियों पर दया करके अपनी बड़ाई की बात किया करते हैं। भाव से नहीं, किन्तु अज्ञानी जीवों पर दया करके कि यह विश्वास हो जाय कि जो भी आत्मा की बात कहेंगे वह बहुत प्रामाणिक बात कहेंगे। ताकि इन्हें यह पता हो जाय कि इस वक्ता ने बहुत आगमों का अध्ययन किया, युक्ति से भी पहिचाना और गुरूवों की सेवा भी की, उसके प्रसाद में भी ज्ञान पाया और अनुभव भी इसे विशेष है, यह बात श्रोतावों के चित्त में बैठे तो श्रोताजन उस उपदेश को निर्बाधरूप से ग्रहण कर लेंगे। इतनी दया करने के वास्ते ज्ञानीजन भी बता रहे हैं कि हमने शास्त्र से जाना, युक्ति से जाना, अनुभव से जाना। उस ज्ञात और अनुभूत आत्मा की बात मैं तुम्हें कहूँगा।

विविक्त आत्मा का अभिधान—यहां कहने का शब्द दिया है अभिधान करना। एक कहना होता है शब्द से और एक खुद की बात को धारण करते हुए कहना होता है। एक कहना होता है ऐसा कि दूसरे लोग करें, हमें करने की जरूरत नहीं है और एक कहना होता है ऐसा कि वही काम तुम्हें करना है और हमें भी करना है, तो इस आत्मतत्त्व की बात तुम्हें भी करना है और हमें भी करना है। ऐसी सूचना देने वाला शब्द है अभिधास्ये। तो यह मैं शास्त्र से, अनुमान से और अपनी शक्ति के अनुसार जो अंत:करण में इस तत्त्व के सम्बंध में समाधान पाया है, सावधानी प्राप्त की है उससे भली प्रकार निर्णय करके उस कैवल्य आनन्द की इच्छा रखने वाले भव्य जीवों को, इस विविक्त शुद्ध आत्मा को अपनी शक्ति के अनुसार कहूँगा, ऐसा संकल्प करके अब आचार्यदेव इस श्लोक को कहते हैं।

श्लोक 4

बहिरन्त: परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्।।४।।

हेय, उपाय और उपेय—थोड़े शब्दों में सार बात कहे देते हैं, सर्वप्राणियों में बहिरात्मापन, अन्तरात्मापन और परमात्मापन है, उनमें अंतरात्मापन का उपाय बनाकर बहिरात्मापन को छोड़ो और परमात्मापन का ग्रहण करो। अब अन्तरात्मापन होने का उपाय क्या है ? इस उपाय के बताने में यह समाधितन्त्र ग्रन्थ आचार्यदेव ने बताया है। सर्वदेहियों में बहिरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार के आत्मा है। इनका लक्षण आगे आयेगा। फिर भी विषय समझाने के लिए थोड़ी इनकी परिभाषा जान लीजिए।

बहिरात्मत्व का स्वरूप—बहिरात्मा–बाहर में आत्मा समझना सो बहिरात्मापन है। अपने से बाहर में आत्मत्व जो जानता है वह बहिरात्मा है। अब अपन वह कितने हैं, क्या हैं ? जिसको छोड़कर अन्य सब बातें बाहर हैं। इस समस्या पर विचार करिये वास्तव में वह अपना आत्मा एक ज्ञानस्वभावमात्र है। शरीरादिक परद्रव्य तो आत्मा हैं ही नहीं, और कर्मउपाधि के सम्बंध से जो विभाव उत्पन्न होते हैं, रागद्वेष, वे भी अपने नहीं हैं। यह स्वयं तो वह है जो सदा रहता है वह है चित्तरूप। उस चिदानन्दमय अपने आत्मा को छोड़कर बाहर में किसी भी चीज को आत्मा मानना सो बहिरात्मापन है। जितना भी जीवों को क्लेश है उनका बहिरात्मबुद्धि है। स्वयं जितना यह अपने आप है उतना ही इसकी दृष्टि में रहे तो इस ज्ञानस्वभावी आत्मा को क्लेश का फिर कारण न मिलेगा। ऐसे इन ज्ञानस्वभावी आत्मा को छोड़कर बाहर में अर्थात् स्वरूप से बाहर में अपना आत्मा समझना सो बहिरात्मापन है।

अन्तरात्मा व परमात्मा का स्वरूप—अन्तरात्मा किसे कहते हैं ? अपना अंतरंग जो स्वरूप है उस स्वरूप को ही जो आत्मा मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं। यद्यपि अनेक अन्तरात्मा बाहरी कार्यों में भी प्रवृत्त रहते हैं और उनको रागद्वेष की बातें भी सताती हैं फिर भी वे अपने अंतरंग में अपने ज्ञानस्वभावमात्र आत्मा को आत्मा जानते हैं। इसी कारण उनका संसार लम्बा नहीं होता है। वे कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं। परमात्मा कहते हैं उसे जो आत्मा परम हो गए हैं अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी में संयुक्त हो गए हैं ऐसे आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

सर्वजीवों में आत्मत्रितयता—इन तीनों तत्वों के सम्बंध में छहढाला में बड़े संक्षेप में स्वरूप कहा है कि जो देह और जीव को एक मानता है उसे बहिरात्मा कहते हैं, और जो अन्तर के आत्मा को आत्मा मानता है उस अन्तरात्मा कहते हैं और उत्कृष्ट ज्ञान से जो सहित है उसे परमात्मा कहते हैं। ये तीनों स्थितियां प्रत्येक जीव में पायी जाती हैं, किसी में कुछ भूतरूप से, किसी में कुछ वर्तमानरूप से, किसी में कुछ भावीरूप से। जो अज्ञानीजन हैं, मिथ्यादृष्टि जड़ देह को ही आत्मा मानने वाले हैं वे वर्तमान में बहिरात्मा हैं और उनमें अन्तरात्मा होने की शक्ति है और परमात्मा होने की भी शक्ति है, ऐसी यह त्रितयता बहिरात्मा में भी है। जो इस समय ज्ञानी है, अन्तरात्मा है वह भूतकाल की अपेक्षा तो बहिरात्मा हैं और भावीकाल की अपेक्षा परमात्मा है, वर्तमान में अन्तरात्मा है। जो परमात्मा हो गए हैं वे भूतकाल की अपेक्षा बहिरात्मा और निकट भूतकाल की अपेक्षा अन्तरात्मा है तथा वर्तमान में परमात्मा है ही।

अन्तरात्मत्व की उपायभूतता—आचार्यदेव कहते हैं कि इन ३ में से मध्य की बात को उपाय बनाया अर्थात् अन्तरात्मा बने और अंतरात्मा के उपाय से बहिरात्मापन को छोड़े और परमात्मापन को ग्रहण करें। इस जीव का इस जीव से बाहर कुछ भी सम्बंध नहीं है। देह तक भी तो इस जीव के साथ नहीं है। कौन चाहता है कि हमारी मृत्यु हो ? पर होती अवश्य है। मरते हुए अनेक लोगों को देखा है और खुद को भी बड़ी शंका बनी रहती है और ज्योतिषियों से पूछते भी रहते हैं कि हमारी उमर कितनी है ? तो मृत्यु का भय इस जीव को लगा हुआ है। जब देह भी अपनी नहीं है तो अन्य बाहरी चीज अपनी क्या होंगी ? देह और जीव को एक मानने वाला बहिरात्मा है, अन्य चीजों को भी वह अपनी मानता है, पर देह के सम्बंध से अपनी देह में प्रीति है तो इस देह के आराम के साधक बाह्य पदार्थों में भी प्रीति है। जिन्हें यह सम्यग्ज्ञान हो गया है और समस्त वस्तु स्वतंत्र-स्वतंत्र दृष्टि में आने लगी हैं, ऐसे पुरूषों को अन्तरात्मा कहते हैं।

ज्ञान के अतिरिक्त अन्यतत्त्व में सर्वप्रियता का अभाव—भैया ! सबसे प्रिय चीज है तो ज्ञान है। ज्ञान से और अधिक प्रिय चीज कुछ भी नहीं है। उसका उदाहरण—जैसे जब बच्चा साल डेढ़ साल का होता है तो बतावो उसे सबसे प्यारी चीज क्या है ? सबसे प्यारी चीज है मां की गोद। इससे बढ़कर उसे और कुछ प्यारा नहीं लगता। जब वह चार-पाँच साल का हो जाता है तो प्यारे लगने लगे खेल खिलौने। मां की गोद भी अब उसे प्रिय नहीं लगती। मां पकड़ कर रखेगी तो छूटकर वह भागना चाहता है। उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो गए। जब १०, १५ वर्ष का हो जाता है तो उसे विद्या प्रिय हो जाती है, परीक्षा आ रही है, विषय याद कर रहा है, रात दिन परिश्रम किया जा रहा है। तो उसको अब विद्या प्रिय हो जाती है। अब विद्या तक ही निगाह नहीं है, विद्या उसके लिए गौण है, अब तो कोई डिग्री मिलनी चाहिए। डिग्री मिल चुकी। अब उसके लिए प्रिय होती है स्त्री। विवाह की अभिलाषा होती है। दो चार वर्ष स्त्री प्रीति की,

उसके बाद उसे बच्चे प्रिय हो जाते हैं। बच्चे भी हो गए तो अब उनकी रक्षा करनी है, तो अब उसे धन प्रिय हो जाता है। अब उसे न स्त्री प्रिय रही, न बच्चे प्रिय रहे।

कल्पित प्रियतमों की प्रियता का लोप—अब फिर पासा पल्टा। मान लो यह घर का मालिक किसी दफ्तर में कार्य कर रहा है और फोन आ जाय कि अचानक घर में आग लग गयी तो वह दफ्तर छोड़कर भागेगा और घर पहुंचकर वहाँ धन निकालने की कोशिश करेगा। स्त्री, बच्चे सब को बाहर करने की कोशिश करेगा और रह जाय कोई एक छोटा बच्चा घर के भीतर और आग तेज बढ़ जाय तो वह दूसरों से कहेगा-अरे भाई मेरा बच्चा तो रह ही गया है उसे निकाल दो, हम ५ हजार रूपये ईनाम देंगे। अरे भाई तू खुद ही क्यों नहीं चला जाता। नहीं जाता क्योंकि उसे बच्चे से भी धन से भी प्रिय है अपनी जान, अपने प्राण। तो अब क्या प्यारा हो गया सबसे अधिक ? अपनी जान।

ज्ञान की सर्वप्रियता—कभी ज्ञान और वैराग्य उसके समा जाय और साधु हो जाय। वन में ध्यान कर रहा है, समाधि का अभ्यास कर रहा है और वहाँ कोई हिंसक जानवर आ जाय तो वह योगी क्या करता है ? अपने ज्ञान ध्यान की रक्षा करता है, समता परिणाम की रक्षा करता है। हालांकि उसमें इतनी ताकत भी है कि उन जानवरों को भी हटा सकता है, शत्रु को भी भगा सकता है पर उनका भी उसे विकल्प नहीं है। वह जानता है कि यह विकल्प किया जायगा तो अपने उस समाधि, समता परिणाम का विनाश हो जायगा। सो वह ज्ञान की रक्षा कर रहा है, तो अब उसे ज्ञान प्रिय हो गया। अब ज्ञान से बढ़कर और प्रिय क्या होगा ? इससे आगे और गति नहीं है। तो यह ज्ञान जिन्हें प्रिय हो जाता है, इसको निर्मल स्वच्छ बनाए रहने की जिसके अन्तर में वृत्ति होती है वह पुरूष अन्तरात्मा कहलाता है।

अन्तरात्मत्व का प्रादुर्भाव—इस अन्तरात्मा बनने के उपाय से उनकी दो बातें होती हैं, बहिरात्मापन छूट जाता है और परमात्मापन प्रकट हो जाता है। अब जरा अन्तर में यह देखिये कि इस जीव की खुद की स्थिति और बद्धकर्मों की परिस्थिति किस प्रकार से चलती रहती है ? जब यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है तो मिथ्यात्व प्रकृति का उसके उदय है और यहाँ विपरीत आशय है। जैसे किसी का किसी से बैर हुआ तो उस माने गए बैरी के चलने, उठने, बैठने, बोलने सभी का अर्थ अपने विरोध में लगाता हैं। यों ही यह मिथ्यादृष्टि जिस चीज को पाता है, जो संघ मिलता है, उस में ही अपना विपरीत आशय बनाता है। जब इस अज्ञानी जीव को भी कुछ कर्मों की मंदता होने पर धर्म की प्रीति जगती है, ज्ञान का अभ्यास करने लगता है तो उसे कुछ असारता मोटे रूप से नजर आने ही लगती है। तो उस असारता की बुद्धि में वह प्रगति करता है और ज्ञान की ओर विशेष लगता है। यद्यपि अभी तक उसके सम्यक्त्व नहीं जगा, पर मिथ्यात्व के मंद उदय में भी धर्म की ओर कुछ रूचि चलने लगती है—(ज्ञान की ओर) तो जब वस्तुपरिज्ञान किया और वस्तुवों की भिन्नता समझ में आने लगी तो किसी समय सर्व परवस्तुओं की

उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूप में विश्राम करता है। उस विश्राम की हालत में यह दृष्टि स्वभाव में जब फिट बैठ जाती है, अनुभव जगता है, तब अनुभव जगने के ही साथ सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और अतिन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है। इस क्षण के बाद फिर उसे धर्म की, ज्ञान की सब बातें सुगम हो जाती हैं।

एकत्वरूचि—यह ज्ञानी जीव अन्तर में रूचि की अपेक्षा तो ज्ञानरत है, पर से विरक्त है, ज्ञाता है, पर प्रवृत्ति में अभी इस मार्ग में आगे नहीं बढ़ा है। अब वह क्रम से बढ़ता है और अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिरता को बढ़ाता है। इस ज्ञानस्वरूप की स्थिरता के बल से ये सब कर्म छूटने लगते हैं। यहाँ इस ज्ञान का जब दबाव दूर हुआ, आवरण दूर होने लगता है तो किसी समय एकदम शुद्धज्ञान प्रकट होता है। जब यह आत्मा खालिस रह जाय, केवल रह जाय, इसके साथ कुछ भी न हो। स्वयं सत् है ना, तो जैसा यह स्वयं सत् है वैसा ही मात्र रह जाय तो यह इसकी शुद्धता है और इसमें ही इसके गुणों का पूर्ण विकास होता है। कल्याणार्थी को चाहिए कि जितना भी बन सके ऐसा यत्न करना चाहिए कि अपने को अकेला देखे।

एकत्वदर्शनरूप औषधि—भैया ! सुख शांति का उपाय वही एक है कि जितना अपने आपको केवल देख सके। बड़े योगी संत अपने आपको इतना केवल देखते हैं कि उनके केवल ज्ञानमात्र यह आत्मानुभूति होती है। व्यवहार में भी जब कभी आपत्ति आ जाती है, भ्रष्ट उपयोग हो जाता है तो बड़ा दिल परेशान रहता है, जिससे वर्षों प्रीति रखी और जिसकी ओर से भी बड़े प्रेम के शब्द सुनने को मिले और इसी कारण बहुत उससे अनुराग हो गया है। अब संसार के नियम के अनुसार वह गुजर गया तो उस गुजरे हुए इष्ट पुरूष के प्रति जो क्लेश होता है चिंतन करके संयोग की भावना में, उस क्लेश को मिटाने में समर्थ अपने आपको अकेला समझ सकना है। और कोई उपाय नहीं है। इष्ट वियोग से उत्पन्न हुए दुःख को क्या सोडा लैमन की बोतलें मिटा देंगी, क्या नींबू संतरा के शरबत मिटा देंगे या रिश्तेदार लोग बहुत प्रेम करके समझाएं, घर के लोग बढ़िया बढ़िया भोजन सामने रखकर खिलाएं ये सब बातें उसके दुःख को नहीं मिटा सकतीं। उसके दुःख को तो वही मिटा सकता है। जब यह जान जाय कि मैं तो सर्व से विविक्त केवलस्वरूप मात्र हूँ, तो अपने आपको केवल समझ लेना, यही क्लेशों के दूर करने का उपाय है।

अन्य समस्त से सर्वथा विविक्तता- इस अन्तरात्मा ने भी अपने आपको यही समझा है जिससे इसका क्लेश एकदम समाप्त हो गया है। देह से भी भिन्न ज्ञानस्वरूपमात्र आकाशवत् निर्लेप यह मैं चैतन्य पदार्थ हूँ। यह सब अनात्मावों से एक समान जुदा है। ऐसा नहीं है कि घर के आदमियों से कम जुदा हो और बाहर के दूसरे घर के लोगों से जीवों से अधिक जुदा हो, ऐसा भेद नहीं है। यह अपने स्वरूप मात्र

है। और जैसे यह अत्यन्त जुदा दूसरे बाहर के लोगों से है, उतना ही पूर्ण अत्यन्त जुदा गृह में बसने वाले परिवार के लोगों से भी है। ऐसा सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका विश्वास रखने वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं।

गुणपूजा—भैया ! ये सब अपने आत्मा की अवस्थाएं हैं। जब हम भगवान् की याद करें, भक्ति करें, नाम लें तब हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मेरा ही तो स्वरूप है। जैनसिद्धान्त में आत्मसाधना के पथ में ५ परमपद बताए गए हैं। किसी व्यक्ति का महत्व नहीं है इस सिद्धान्त में भगवान् महावीर भी पूजे जाते हैं तो भी एक महावीर स्वामी थे इसलिए पूजे जाते हों यह बात नहीं है और जितने भी तीर्थंकर आदिनाथ, पार्श्वनाथ अथवा अन्य सामान्य केवली हनुमान रामचन्द्रादिक जो भी पूजे जाते हैं वे चूंकि राम थे। वे चूंकि हनुमान थे, आदिनाथ थे इस नाते से नहीं पूजे जाते हैं। वे वीतराग सर्वज्ञ आत्मा हैं, इस कारण पूजे जाते हैं और इसीलिए जो मूल मंत्र है उसमें किसी व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया गया है। फिर किन्हें नमस्कार किया गया है ? तो आत्मसाधना के वश में जिनका विकास हो जाता है उन विकासों को नमस्कार किया गया है। परमेष्ठिता के विकास—परमेष्ठियों में से प्रथम विकास है साधुता। इसमें आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों शामिल हैं। ये तीनों एक बराबर है। साधु भी रत्नत्रय की सेवा करता है, उपाध्याय भी रत्नत्रय धर्म की सेवा करता है और आचार्य भी इस ही रत्नत्रयरूप धर्म की सेवा करता है। इन तीनों प्रकार के साधुवों में जिस किसी को भी उत्कृष्ट साधना हो जाय, निर्विकल्प समाधि बन जाय तो वही साधु कर्मों का क्षय करके अरहंत हो जाता है। अरहंत कहते हैं शरीर सहित भगवान् को। क्योंकि पुरूष ही आत्मसाधना कर निर्वाण पाता है। तो पहिले बड़ी विशुद्धि आने पर भी कुछ समय तक शरीर का संग रहता है। सो जितने समय वीतराग सर्वज्ञ हो जाने पर भी शरीर के साथ हैं उतने समय तक वे अरहंत कहलाते हैं। जब अरहंत नाम का स्मरण हो तब यह भी ध्यान से न भूलना चाहिए कि वह मेरी ही तो अवस्था है, एक जाति है, ऐसा मैं भी हो सकता हूँ।

प्रभुपूजा का प्रयोजन—यदि अपने में प्रभुत्वशक्ति का निर्णय नहीं है तो अरहंत को मानने की जरूरत क्या है ? क्योंकि कोई भी भगवंत हो, किसी दूसरे जीव को सुख दुःख दें, धनी निर्धन बनाएं, स्वर्ग नरक भेजें इस खटपट में वे भगवान् नहीं पड़ते हैं। भगवान् तो समस्त विश्व के ज्ञाता होकर भी आनन्दरस में लीन रहते हैं। सो उनसे कुछ अपना स्वार्थ तो बनता नहीं, फिर भगवान् को क्यों पूजा जाय ? भगवान् के पूजने का यही प्रयोजन और उद्देश्य बनाना चाहिए जिससे ऐसी उत्कृष्टता जगे कि मैं भी सर्वकर्मों का क्षय करके ऐसा हो सकूं और यह मेरी ही परिणति है। कोई अचेतन की परिणति नहीं है, चेतन की

परिणति है। फिर अरहंत अवस्था के बाद स्वयमेव शेष बचे हुए कर्ममल का क्षय हो जाता है और उसके साथ ही एकदम शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। यहाँ फिर कोई शरीर के अंग नहीं रहते हैं। और यह आत्मा देह से छूटकर सदा के लिए मुक्त हो जाता है। ऐसे मात्र आत्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं। जब सिद्ध का स्मरण करें तो अपने आप में यह प्रतीति बनाएं कि यह मैं स्वयं हूँ, मैं ऐसा हो सकता हूँ। यों इस श्लोक में यह शिक्षा दी है कि अन्तरात्मा बनने के उपाय से यह आत्मा बहिरात्मापन से दूर हो और परमात्मापन को ग्रहण करे।

श्लोक 5

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर:।
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति: परमात्माऽतिनिर्मल:।।५।।

त्रिविध आत्मावों में से बहिरात्मा लक्षण—इस छंद में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप कहा गया है। जो शरीरादि में अपना आत्मा माने उसे बहिरात्मा कहते हैं। आदि शब्द से मन और वचन ग्रहण करना है अर्थात् तन मन और वचन में जो यह मैं आत्मा हूँ ऐसा माने उसे बहिरात्मा कहते हैं। धन वगैरह की इसमें चर्चा नहीं है क्योंकि वह तो प्रकट भिन्न है। उसके साथ आत्मा का कोई सम्बंध नहीं है। आत्मा का सम्बंध तन, मन और वचन से है इसलिए धन में आत्मा मानना ऐसी बात यहाँ नहीं कही जा रही है। जो धन को ही आत्मा माने उसकी तो चर्चा करनी ही न चाहिए। वह तो अति व्यामोही पुरूष हैं।

देहात्मबुद्धिता—शरीर है, सो आहारवर्गणा जाति के पुद्गल स्कंधों का पिण्ड है, किन्तु यह आत्मा चेतन है और ये सर्वस्कंध अचेतन हैं। इन सर्वस्कंधों की और आत्मा की जाति ही नहीं मिलती है और फिर भी शरीर को आत्मा माने सो वह बहिरात्मा पुरूष है। मन भी एक शरीर का अंग है अथवा शरीर के अवयवरूप मन को निमित्त करके जो विचार, कल्पनाएं बनती हैं वे मन कहलाती हैं और जो विचार कल्पनाओं को आत्मा न माने वह है ज्ञानी और उन्हें ही जो आत्मा मानता है वह बहिरात्मा। वचन इस आत्मा की इच्छा और प्रयत्न के कारण जो शरीर के अंगों में परिस्पंद होता है उसका निमित्त पाकर भाषावर्गणा जाति के स्कंध जो वचनरूप परिणमते हैं उन्हें वचन कहते हैं। इन वचनों में यह मैं हूँ या मैं बोलता हूँ, मैं ऐसा कहूँगा इत्यादि प्रकार से वचनों में आत्मीय का सम्बंध करना यह भी बहिरात्मापन है।

तन, मन और वचन ये तीन प्रकट अचेतन हैं अथवा भाव मन भी आत्मस्वभाव न होने से जीव नहीं माना गया। उन सबमें आत्मापन का भ्रम करना सो बहिरात्मापन है।

अन्तरात्मा का स्वरूप—अन्तरात्मा का लक्ष्य किया गया है कि चित्त, दोष तथा आत्मा इन तीनों में जब किसी के भ्रम नहीं रहता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं अर्थात् चित्त को चित्तरूप से ही मानें, दोषों को दोषरूप से ही मानें और आत्मा को आत्मारूप से ही मानें ऐसी जहाँ यथार्थ दृष्टि होती है उसे कहते हैं अन्तरात्मा। चित्त का अर्थ है कल्पना, विचार अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान। बहिरात्मा जीव क्षायोपशमिक ज्ञान को आत्मसर्वस्व मान लेता है। जैसे यहाँ जानन इसी तरह बना हुआ है बस यह मात्र मैं हूँ ऐसी प्रतीति का नाम चित्त में भ्रम पैदा करना कहलाता है। नहीं तो चित्त को चित्तरूप मानता था। यह खण्डज्ञान है, क्षायोपशमिक ज्ञान है। अमुक-अमुक ज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण उत्पन्न हुआ है। यह मैं नहीं हूँ। हां मेरे उपादान से प्रकट हुआ है। यों उस चित्त से अपने आत्मस्वरूप को जो न्यारा समझे उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिता—जब चित्त से ही अपने को जुदा समझ लिया हो तो दोषों से अपने आपका तो जुदा समझना प्राथमिक ही बात है। रागद्वेष आदिक विभाव जो कर्मों के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं उन विभावों में यह मैं आत्मा हूँ ऐसी स्वीकारता करना सो बहिरात्मापन है और यह दोष दोष है, रागादिक विभाव औदयिकभाव हैं, उन औदयिक भावों से विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपका प्रत्यय करना सो अन्तरात्मापन है। चित्त और दोषों ये दोनों ही आत्मतत्त्व नहीं होते हैं। मैं परम पारिणामिक भावस्वरूप एक ज्ञानानन्द चैतन्यतत्त्व हूँ।

अब आत्मा को भी आत्मारूप से मानना यह अन्तरात्मा के लक्षण में तीसरी बात कही गयी है। कितने ही जीव पर को आत्मा मानते हैं, कितने ही जीव आत्मा को पररूप मानते हैं। सारा विश्व एक मैं हूँ ऐसी जिसकी प्रतीति रहती है, कल्पना होती है उन्होंने समस्त पर को आत्मा मान लिया है अथवा सर्व चीजें प्रतिभासमात्र हैं, जिसे ज्ञानाद्वैत कहते हैं। सब कुछ ज्ञानमात्र है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, ऐसी कल्पना में उसने अपने को सर्वरूप मान लिया। इन दोनों ही कल्पनाओं में आत्मा को आत्मारूप से स्वीकार नहीं किया गया है। तो जिनके चित्त से, दोष से और आत्मा से भ्रांति मिट गयी है, उन्हें उस ही रूप समझते हैं उन्हें कहते हैं अन्तरात्मा।

परमात्मतत्व—परमात्मा उसे कहते हैं जो अत्यन्त निर्मल आत्मा हो। परमात्मा शब्द में तीन शब्द हैं पर, मा, आत्मा। पर में पर मा इन दो शब्दों का समास है, उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ हो उसे परम कहते हैं। लक्ष्मी का अर्थ है ज्ञान। लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्षण ये सब एकार्थक हैं। लक्ष्म शब्द नपुंसकलिंग है और लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिंग है। पर एक ही शब्द है। लक्ष्म का अर्थ है लक्षण। आत्मा का लक्षण है ज्ञान और उस ज्ञान

का ही नाम लक्ष्मी है। लक्ष्मी की आकांक्षा करने वाला तो चैतन्यतत्त्व ही होता है। अचेतन में आकांक्षा नहीं होती और उन चेतनों का लक्षण है ज्ञान। इसलिए ज्ञान का ही नाम लक्ष्मी है। देखो तो गजब, लक्ष्मी के ज्ञान बिना लक्ष्मी लक्ष्मी को चाह रही है। लक्ष्मी नामक कोई देवी हो, जो धन बिखेरती हो ऐसा कुछ नहीं है। ज्ञान का ही नाम लक्ष्मी है। ज्ञान ही अर्थोपार्जन कराने वाला है। इससे इस ज्ञानलक्ष्मी को ही पहिले काल में लक्ष्मी कहा जाता था और लक्ष्मी के पूजने का अर्थ है ज्ञान की पूजा।

दीपावली निर्वाणपूजा व ज्ञानपूजा का प्रतीक—दीवाली के समय प्रात:काल तो निर्वाणपूजा होती है और सायंकाल को लक्ष्मीपूजन होती है। हुआ क्या था कि कार्तिक बदी अमावस्या के प्रात:काल वीर का निर्वाण हुआ था और अमावस्या को ही सायंकाल गौतमगणधर को केवलज्ञान हुआ था। सो प्रात: दीपमालिका मनाते हैं वह है निर्वाण की और सायंकाल जो दीपमालिका मनाते हैं वह है ज्ञानपूजा। उपादेयभूत ज्ञानलक्ष्मी थी पर जो उत्कृष्ट उपादेयभूत है वह कहलाती है लक्ष्मी। ऐसा तो ध्यान में रहा, पर मोही जीवों को उत्कृष्ट और उपादेय धन जंचा, सो उसका नाम लक्ष्मी लिया जाने लगा और वैभव धन तो नानारूपों में है। सोना, चाँदी, रूपया, नोट, अनाज, घर अनेक रूपों में धन है, तो फिर पूजे किसे किसे ? तो सब वैभवों की प्रतिनिधिरूप एक लक्ष्मी नाम की देवता की कल्पना की। जिसके चार हाथ हों, दो हाथी अगल बगल माला लिए खड़े हों और हाथों से रूपये गिराते जा रहे हों, इस तरह से आकाररूप वाली लक्ष्मी देवीकी पूजा करने लगे। वास्तव में लक्ष्मी नाम है ज्ञान का। उत्कृष्ट मां अर्थात् लक्ष्मी। याने ज्ञानलक्ष्मी जहाँ हो उसे परम कहते हैं और इन दोनों शब्दों के साथ कर्मधारय समास है। परम जो आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं।

निर्मल आत्मत्व की प्राप्ति का उपाय—यह परमात्मा अत्यन्त निर्मल है; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। पर जैसे कि पूर्व श्लोक में बताया है कि बहिरात्मापन छोड़ना चाहिए। परमात्मापन ग्रहण करना चाहिए और इन दोनों के ही त्याग और उपादान करने का उपाय है अन्तरात्मा बनना अर्थात् आत्मा का सनातन सत्य जो पारिणामिक स्वरूप है चितस्वभाव वह क्या स्वरूप रखता है ? उस स्वरूप की पहिचान में, उस स्वरूप की दृष्टि में, प्रतीति में अपने आपको लगाना चाहिए। उस स्वरूपदर्शन की सुविधा में यह जान लेना चाहिए कि जानन क्या कहलाता है ? जानन यद्यपि परिणमन है और अपने को समझना है ज्ञानगुण को, ज्ञान शक्ति को, स्वभाव को तथापि उस स्वभाव को परखने के लिए प्रथम ज्ञान परिणमन के स्वरूप को जानो। जाननरूप परिणमन क्या है ? किसका नाम है जानन ? यह जाननस्वरूप शीघ्र ग्रहण में आ सकता है क्योंकि यह साकार है। उस जानन के रूप को समझते हुए में जो ज्ञेयपदार्थ ज्ञान में आ रहे हैं उस ज्ञेय की मुख्यता न करें और उस जानन परिणमन की मुख्यता करें अर्थात् जो बाह्य ज्ञेयपदार्थ आ रहे हैं उनको न छू कर जो ज्ञेयाकार परिणमन रहता है उसको जानें।

मात्रज्ञेयाकार ग्रहण की शक्यता—जैसे दर्पण के सामने कोई चीज रखी है उसका दर्पण में प्रतिबिम्ब हो गया तो उस काल में हम दर्पण के प्रतिबिम्बमात्र को ही देखें ऐसा भी तो कर सकते हैं। बाह्य अथ का कुछ विकल्प न करें, केवल दर्पण में अंत:प्रतिबिम्ब को देखें। जैसे हम यहाँ बाह्यपदार्थों को न निरखकर केवल द्रव्य के अंत:बिम्ब को देख सकते हैं, इस ही प्रकार हम बाह्य ज्ञेयतत्त्वों को न निरखकर अपने आत्मप्रदेश में जो ज्ञेयाकार परिणमन हो रहा है, मात्र उस ज्ञेयाकार परिणमन को हम देख सकते हैं और ऐसा देखते हुए जानन का स्वरूप समझ सकते हैं। ज्ञानाकार ग्रहण का यत्न—उस जाननस्वरूप को समझते हुए अब हम उसके स्रोतरूप शक्ति और स्वभाव में उतरें तो पर्यायरूप जानन का परिणमन का विकल्प भी हटकर मात्र जानन स्वभाव पर दृष्टि होगी। इस जानन स्वभाव की प्रतीति, आश्रय, आलम्बन शुद्ध जानन परिणमन का कारण होता हैं। अर्थात् शुद्ध केवलज्ञान प्रकट होने का कारण है ज्ञानस्वभाव का आलम्बन। इस तरह इस छंद में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का लक्षण कहा है। अब परमात्मा का और विशेष वर्णन करने के लिए श्लोक कह रहे हैं।

श्लोक 6

निर्मल: केवल: शुद्धो विविक्त: प्रभुरव्यय:।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिन:।।६।।

त्रिविध आत्मावों के स्वरूप विवरण का क्रम—आत्मा के जो ये तीन प्रकार कहे गए हैं उनका सामान्य लक्षण कहकर विशेष वर्णन के प्रसंग सबसे पहिले परमात्मा का वर्णन क्यों किया जा रहा है ? इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ में परमात्मा का वर्णन तो बस इस एक श्लोक में हो गया है, इस से अधिक वर्णन है बहिरात्मा का और उससे अधिक वर्णन है अन्तरात्मा का। और इस प्रकार वर्णन करने का कारण यह है कि परमात्मा के स्वरूप को तो एक बार जानना है और उसे आदर्शरूप में पहिचानना है। काम तो यह पड़ा है कि बहिरात्मापन का त्याग करना है व अन्तरात्मापन का ग्रहण करना है तो उसकी बात भी जाननी चाहिए कि क्या-क्या कलाएं इस बहिरात्मा अवस्था में होती हैं जिन कलावों को दूर करना है और कौन कौन कलायें हैं अन्तरात्मावस्था में जिन कलावों से अन्तरात्मा बनना है। विवरण में सबसे अधिक यों समझना है कि परमात्मा बनना है तो यहाँ सर्वप्रथम परमात्मा का विवरण किया जा रहा है।

परमात्मा की निर्मलता—परमात्मा को अनेक विशेषणों से बताया है। वह निर्मल है, मलरहित है। जिसका मल दूर हो गया हो उसे निर्मल कहते हैं। यह चित स्वरूप अमल है किन्तु भगवान् निर्मल है। यद्यपि स्थूलरूप से अमल का भी यही अर्थ है और निर्मल का भी वही अर्थ है, पर अमल शब्द में यह ध्वनित है कि मल नहीं था, मल नहीं है, मल न होगा। ऐसी बात आत्मस्वभाव में पायी जाती है। प्रभु

निर्मल है, इसके पूर्व संसार अवस्था में मल था और वह मल दूर किया गया है, निर्मल हो गया है। भगवान् के द्रव्य मल दोनों नहीं है। द्रव्यमल में आया शरीर और द्रव्यकर्म,और भावमल में आए रागद्वेष आदिक भाव और क्षायोपशमिक ज्ञान, कल्पना, विचार, तर्कणा ये सब भावमल हैं। परमात्मा द्रव्यमल और भावमल दोनों से रहित है।

सकल परमात्मा की निर्मलता—परमात्मा के लक्षण में अरहंत भी आते हैं व सिद्ध भी आते हैं। सिद्ध तो तीनों प्रकार के मलों से रहित है। और अरहंत आत्मा के गुण घातने वाले द्रव्यकर्म से रहित है तथा रागादिक तर्कणादिक सर्व भावमल से रहित है। अरहंत के द्रव्यकर्म मल शेष रहता है अथवा शरीररूप मल शेष रहता है, किन्तु वह अशक्त मल आत्मा के गुणों में किसी भी प्रकार का विघात नहीं करता है।

प्रभु का कैवल्य—भगवान् प्रभु केवल हैं। केवल का अर्थ स्वरूपसत्ता मात्र है। परपदार्थों के संग और प्रभाव से रहित है। 'क' नाम आत्मा का भी है अथवा यदि केवल शब्द में वकार को ब बोल दिया जाय, केबल, अथवा वबयोरभेद;की दृष्टि की जाय तो उसका अर्थ होगा कि आत्मा में ही जिसका बल लगा हुआ है अर्थात् शुद्ध हुआ है, किसी परपदार्थ की दृष्टि नहीं कर रहा है, ऐसा सर्वविविक्त स्वरूपमात्र जो प्रकट हुआ है उसको केवल कहते हैं। केवल कहो, प्यौर कहो दोनों का एक भाव है। यद्यपि साधारण तौर से प्यौर का अर्थ कहते हैं पवित्र, पर सीधा अर्थ है सिर्फ रह जाना, केवल रह जाना। केवल रह जाने का ही नाम पवित्र होना कहलाता है। पवित्र होना कोई दूसरी चीज नहीं है। जो चीज सहज अपने स्वरूप जैसी है वैसी ही रह जाय उसी का नाम है केवल। प्रभु अरहंत और सिद्ध भगवान् केवल हैं, अपनी स्वरूप सत्ता मात्र हैं।

प्रभु की शुद्धता—प्रभु शुद्ध हैं। जैसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अपने ही स्वरूपमात्र से रहते हैं, उसमें पर का सम्बंध नहीं है। इसी प्रकार यह प्रभु परमात्मा भी केवल अपने स्वरूप से रहता है। प्रभु में इच्छा का सम्बंध जोड़ना और जगत के जीवों को सुखी दुःखी करने का सम्बंध जोड़ना, जीवों के कर्म के अनुसार फल देने की बात कहना, क्रिया को जोड़ना यह भगवान् के स्वरूप का अपमान है और प्रभु तो समस्त स्वतत्वों को जानकर केवल आत्मीय आनन्दरस में लीन रहता है। यदि प्रभु जीव को सुख दुःख देने लगे तो जैसे हम आप लोग संसारी जीवों को सुख और दुःख देने का यत्न करते हैं इसी प्रकार उनका यत्न हुआ। कदाचित् कोई यह कहे कि यह तो ईश्वर है जो जीवों पर दया करता है। पाप का फल देता है, दुःख देता है, जिस जीव का पुण्योदय हुआ उसको सुख देता है क्योंकि उसका अच्छा परिणाम था। सो ऐसी स्थिति में जल्दी-जल्दी तो कुछ सुहावनासा लगता है किन्तु इस प्रकार यदि वह ईश्वर वह प्रभु

विपरिणमन करे तो उसमें शुद्धता ठहर ही नहीं सकती है।

ज्ञानानन्दस्वरूप मग्नता में ही शुद्धता की स्थिति—भैया ! वस्तुस्वरूप की जिन्हें परख नहीं है, वे ही इस प्रकार की कोई अकल्पित कल्पना करते हैं। जैसे जिस समय रेलगाड़ी पहिले ही निकली होगी, लोग बतलाते है कि जब रेल निकली तो देहाती लोग उसे देखने को जुड़े, और देहाती यह कहने लगे कि आगे जो इसमें काला-काला है उसमें काली देवी रहती है और वह कालीदेवी इस गाड़ी को चलाती है। अन्य देशों में भी ऐसी कल्पना वाले लोग होंगे किन्तु इस देश में ऐसी कल्पना करने वाले बहुत काल से चले आए हैं। जो बात समझ में न आयी, जिसका कार्यकारण विधान ज्ञात नहीं है, जिसका स्वरूप निर्णय में नहीं आता बस एक ही उत्तर है कि ईश्वर की ऐसी मर्जी है, उसी की यह सब लीला है। इसी से अनेक सज्जनों ने यह कहना शुरू किया कि वह ईश्वर ही सबको सुखी करता और दुःखी करता है।

पर के अकर्तृत्व व ज्ञातृत्व में शुद्धता की स्थिति—भैया ! मान लो जो पाप कर्म करता है उन्हें फल देता है ईश्वर, तो पाप कर्म कराना भी ईश्वर के अधिकार की बात होना चाहिए अन्यथा स्वतंत्रता कहां रही ? लो यों ईश्वर ने ही पाप कराया और ईश्वर ने ही पाप का फल दिया। ईश्वर ने ही पुण्य कराया और ईश्वर ने ही पुण्य का फल दिया, तो फिर उदारता कहां रही ? किसी से पाप करा दिया और उसे दुःख दे दिया किसी से पुण्य करा दिया और उस सुख दे दिया। प्रभु अपने ज्ञानानन्दानुभव से च्युत नहीं होता, प्रभु तो शुद्ध है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्म से रहित सारे विश्व का ज्ञायक अपने ही आनन्दरस में लीन, अपने ही सहजस्वभाव के परमविकासरूप जो कि अनाकुलता से भरा हुआ है, भव्य जीवों के लिए जो आदर्शरूप है, इसके उत्तर में केवल यह स्वरूप आता है। जो प्रभु का शुद्धस्वरूप है, मुझे यह बनना है। यों आदर्शरूप है। उस प्रभु में किसी प्रकार की मर्जी या योगपरिस्पंद, क्रिया कला कुछ भी जोड़ देना यह ईश्वर के स्वरूप का अपमान है, उनके स्वरूप को हल्का बना देने की बात है। उस स्वरूप की वहाँ महिमा नहीं रहती। प्रभु परमात्मा शुद्ध है, निर्मल है, केवल है।

प्रभु की विविक्तता—अब इसके बाद में चौथा विशेषण आ रहा है कि वह विविक्त है। विविक्त शब्द बना है वि उपसर्ग पूर्वक विच्लृ धातु से विच्लृ धातु का अर्थ है द्वेधीकरण, दो टुकड़े कर देना। तो यह प्रभु संसार अवस्था में द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म में मिलाजुला था, एक पिण्डरूप हो रहा था। अब वह विविक्त हो गया है अर्थात् जिन परिणतियों से मिला हुआ था उन सबसे न्यारा हो गया है। इस रूप से देखा जा रहा है, वह स्वरूप जो पहिले के विशेषणों द्वारा देखा है। किन्तु ऐसे भिन्न-भिन्न विशेषण इसलिए

दिए जा रहे हैं कि उनकी पहिली अवस्था, वर्तमान अवस्था सब कुछ जाहिर हो जाय। यह प्रभु पहिले संयुक्त था अब विविक्त हो गया। पर व परभाव में जो संयुक्त है वह संसारी है और जो उससे विविक्त है वह प्रभु है। इस तरह परमात्मा के वर्णनों में यह विविक्त विशेषण है।

प्रभुता—परमात्मा प्रभु कहलाता है। प्रभु शब्द में दो शब्द है, प्र और भु। प्र का अर्थ है उत्कृष्ट और भू का अर्थ है होने वाला। जो उत्कृष्ट रूप से हो उसे प्रभु कहते हैं। परमात्मा में ज्ञानदर्शन, आनन्दशक्ति ये सब है, उत्कृष्ट रूप से हैं। परमात्मा का नाम अव्यय भी है। जिसका कभी व्यय न हो उसे अव्यय कहते हैं। संसार की दशावों का व्यय हो रहा है। नरक तिर्यंच, मनुष्य, देव इन पर्यायों का विनाश हो रहा है, किन्तु सर्वकर्मों के क्षय के कारण जो एक उत्कृष्ट गुण विकास की अवस्था हुई है जिसका कि नाम परमात्मत्व है उसका कभी विनाश नहीं होता। इस कारण परमात्मा अव्यय कहलाता है।

परमेष्ठिता—परमात्मा को परमेष्ठी भी कहते हैं। जो परमपद में स्थित हो उसे परमेष्ठी कहते हैं। जीव का परमपद वीतराग निर्दोष गुण विकास ही है। इसके अतिरिक्त जितने भी अन्य भाव हैं वे सब विभाव हैं, निकृष्ट हैं, जीव के विपरीत हैं। ऐसे निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ के उत्कृष्ट पद में जो ठहरा हुआ है उसे परमेष्ठी कहते हैं।

परात्मा और परमात्मा—परमात्मा का नाम परात्मा भी है। पर का अर्थ है उत्कृष्ट। उत्कृष्ट आत्मा को परात्मा भी कहते हैं। यह प्रभु उत्कृष्ट है जो समस्त विश्व को जानते हुए भी रागद्वेष की तरंग में नहीं आता है और अपने आनन्दरस में लीन होता है। ऐसा जो उत्कृष्ट आत्मा है वह परमात्मा है। परमात्मा का तो अर्थ बताया ही गया है। मा विशेषण और लग गया। उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ हो उसे परमात्मा कहते हैं।

ईश्वर—परमात्मा को ईश्वर भी कहते हैं। ईश्वर का अर्थ है जो अपने स्वाधीन ऐश्वर्य से युक्त हो उसे ईश्वर कहते हैं। ऐश्वर्य नाम उसका है जहाँ दूसरे का मुख न देखना पड़े। ऐसा ऐश्वर्य है ज्ञातृत्व, जाननरूप ऐश्वर्य की उत्पत्ति इस ज्ञान में है, ज्ञाता के द्वारा ही है, ज्ञाता से ही है, ज्ञाता के लिए है। जो आत्मा का यह शुद्ध कार्य है उस कार्य में पर की अधीनता नहीं है। रागादिक भाव, विषयकषायों के परिणाम, लौकिकयश प्रतिष्ठा के बड़प्पन का भाव ये सब कर्मविपाक का निमित्त पाकर होते हैं इस कारण यह ऐश्वर्य नहीं कहलाता है। ऐश्वर्य तो वह है जो सहज है, निर्दोष है, अपने आपके त्त्वसत्त्व के कारण है। ऐसा ऐश्वर्य है आत्मा का ज्ञान। इस ज्ञान ऐश्वर्य करि यह आत्मा सम्वेद रहा है, इसका नाम ईश्वर है।

जिनरूपता—परमात्मा का नाम जिन भी है। जिसने पंचेन्द्रिय का विजय किया उसका नाम जिन हुआ। इन्द्रिय का विजय होता है—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयभूत पदार्थों से भिन्न ज्ञानस्वभावकरि अधिक इस निज आत्मतत्त्वत्त्व की दृष्टि करने से। इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति तीन हेतुओं से होती है। प्रवृत्ति में द्रव्येन्द्रिय पुष्ट चाहिए और विषयभूत साधना सामने चाहिए और इसका उपयोग भी उसमें लगना चाहिए।

इस उपयोग का नाम भावेन्द्रिय और शरीर की इन्द्रिय का नाम है द्रव्येन्द्रिय और विषयभूत साधन का नाम है विषय। इनसे विविक्त शुद्ध चिद्रूप के दर्शन से इन्द्रियविजय होता है।

इन्द्रियविजय का उपाय—भावेन्द्रिय खण्डज्ञान रूप है। ज्ञानस्वभाव अखण्ड है और ज्ञानस्वभाव का जो शुद्ध परिणमन है वह भी अखण्ड है, सर्वात्मक है, किन्तु क्षायोपशमिक अवस्था में जो भावज्ञान चलता है, भावेन्द्रियरूप से ज्ञान की वृत्ति होती है वह सब खण्डज्ञान है। प्रभु पुद्गल को सर्वरूप से एक समय में निहारते हैं पर हम आप स्कन्ध पुद्गल को जब सरूप से निहारते हैं तब रूप, गंध, स्पर्श से नहीं निहार पाते हैं। किसी चीज को छुवा तो स्पर्श के रूप से देखते हैं रसादिक के रूप से नहीं निहार सकते हैं। चारों का ज्ञान अथवा विषयभूत पांचों का ज्ञान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनका ज्ञान एक साथ नहीं होता। एक समय में एक स्वरूप का ज्ञान होता है इसलिए यह खण्डज्ञान है।

एक काल में इन्द्रियों की एक विषयता—कभी कोई लम्बे, चौड़े रेन व तेल के पापड़ बनाए और खाये तो उसे भले ही लगता हो कि मैं रस चख रहा हूँ, रूप भी देख रहा हूँ, उसका गंध भी सूँघ रहा हूँ, स्पर्श भी हो रहा है और कुड़कुड़ाहट के शब्द भी सुनाई दे रहे हैं किन्तु इन पांचों के ज्ञान में भी कौवा की आँख फिरन जैसा अन्तर है। यह जल्दी-जल्दी मन चलता है और तीव्र गति में यह विदित नहीं होता कि क्रम से जान रहा हूँ किन्तु भावेन्द्रिय का स्वरूप ही क्रम-क्रम से जानने का है। जैसे ५० पानों की गड्डी रखी है और उस पर कोई बड़े वेग से सूई चुभोता है तो भले ही ऐसा लगे कि एक साथ ही पचासों पान भिद गए पर सूई जब पहिले पान को छेद रही है उसी समय दूसरे पान को नहीं छेद रही है। ऐसे ही इन विषयों का ज्ञान मनोवेग से शीघ्र ग्रहण में हो रहा है परन्तु क्रम वहाँ भी है।

अखण्ड, चेतन व असंग आत्मस्वभाव के आश्रय का प्रताप—ज्ञानी जीव अपने को अखण्ड ज्ञानस्वभावी देखता है। अखण्डज्ञान वाला निहारता है और ऐसी अखण्ड ज्ञानमय अपनी प्रतीति रखने से उस खण्ड ज्ञान पर विजय होती है। ऐसे ही ये द्रव्येन्द्रिय आँख, नाक, कान वगैरह पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, किन्तु मैं चेतन हूँ। सो अपने आपके चैतन्य भाव के अनुभव द्वारा इन द्रव्येन्द्रिय पर विजय करता हूँ। ये विषयभूत पदार्थ संग हैं। प्रसंग में आते हैं तो ग्रहण में होते हैं, किन्तु मैं आत्मा सदा असंग हूँ। कितने ही परिवार के बीच होऊँ, कितने ही मित्रजनों के मध्य होऊँ और कितनी ही उलझनों और सम्पदावों के मध्य होऊँ, फिर भी मैं सबसे असंग हूँ, किसी भी परतत्त्व में मिला जुला नहीं हूँ। ऐसी अपने आपकी असंगपने की भावना से इन विषयों को जीता जा रहा है। प्रभु परमात्मा सर्वप्रथम इन्द्रियविजयी हुए हैं पश्चात् मोहविजयी हुए हैं, इस कारण उनका नाम जिन पड़ा। पश्चात् कषायविजयी हुए सो जिन नाम पड़ा। फिर समस्त कषायों को जीत लिया। सो परमात्मा जिन कहलाता है।

प्रभु के अनेक नाम व अजरत्व—भैया ! प्रभु के थोड़े से नाम बताये गए हैं। यों तो हजारों नाम

उनके लिए जा सकते हैं, और १००८ नाम तो सहस्र नाम के श्लोकों में निबद्ध हैं। उनमें जितने प्रभु में गुण हैं, जितनी करामात हैं उन गुण और करामातों की दृष्टि पर प्रभु के नाम चलते हैं। जैसे प्रभु अजर हैं, प्रभु में कभी बुढ़ापा नहीं आता। अरहंतदेव का तो परमौदारिक शरीर है। अरहंत होने से पहिले कोई मुनि बूढ़ा हो तो अरहंत होने पर बुड्ढा नहीं रहता या किसी के फोड़ा फुन्सी निकली हो या कुष्ट रोग हो गया हो या किसी कारण कुछ कमर टेढ़ी हो गयी हो और अरहंत हो जाय और ऐसा ही शरीर अरहंत होने के बाद रहे तो कितना अटपट सा लगेगा। ये भगवान् टेढ़ी कमर के हैं, भगवान् की पीठ में फोड़ा निकला है ऐसा कुछ रूपक समझ में भी नहीं आता और चित्त कुछ गवाह भी नहीं देता। भगवान् सब एक प्रकार के हैं। भले ही उनकी बनावट में थोड़ा अन्तर हो पर वह अन्तर इस तरह का होता है जैसे पाषाण से मूर्ति बनाते हैं तो एक मूर्ति से दूसरी मूर्ति की भी शकल नहीं मिलती। मगर मोटे रूप से एक सा ही आकार है। यदि भगवान् बूढ़े हों तो लोग कहें कि अब बूढ़े भगवान् जा रहे हैं, तो यह कुछ भगवत्ता नहीं जाहिर हुई, परमौदारिक शरीर ही तो है जो युवा जैसा पुष्ट शरीर है, नीरोग है, सर्व प्रकार के धातु उपधातु से रहित है सो अरहंत भी अजर है और सिद्ध भगवान् के तो शरीर ही नहीं है। कहां बिराजेगा यह बुढ़ापा ?

आत्मा की अजरस्वरूपता—भैया ! प्रभु अजर ही हैं और ऐसा ही अजर स्वरूप जहाँ बुढ़ापा नहीं है हम और आप में विराजता है। कैसी ही वृद्धावस्था हो गयी हो, दाँत टूट गए हों, कानों से कम सुनाई देता हो, लार थूक भी मुँह में न थम सकता हो, चाल भी चलते न बने, पैर भी कहीं के कहीं उठें, कैसे भी स्थिति हो शरीर की, वह तो इस शरीर का ख्याल छोड़कर क्योंकि शरीर में आत्मस्वरूप नहीं व आत्मा में शरीर स्वरूप नहीं, दोनों पृथक् सत हैं, सो इस देह की सुध भूलकर अपने आपके स्वरूप में दृष्टि लगाए तो वह भी अपने को बूढ़ा अनुभव नहीं कर सकता। प्रभु तो व्यक्त अजर हैं।

प्रभु का अमरत्व—प्रभु अमर हैं उनका कभी मरण नहीं होता है। अरहंत भगवान् के मरण तो होता है, आयु का क्षय उनके भी है पर उनके मरण का नाम है पंडित-पंडितमरण। जिस मरण के बाद जन्म न हो उस मरण का नाम मरण नहीं है। मरण वस्तुत: उसे कहेंगे जिसके बाद नया जन्म हो। अरहंत भगवान् के पुन: जन्म नहीं होता। सो अरहंत भी अमर है। सिद्ध के तो शरीर ही नहीं है तो मरण कहां बिराजेगा ? वे भी अमर हैं। अब जरा अपने स्वरूप को निहारो तो यह स्वरूप भी अमर है। जीव को मरण का भय सबसे बड़ा भय रहता है। पर मरण का भय तब तक है जब तक इस जीव ने बाह्यपदार्थों में अपनी ममता बनायी है अथवा अपने आप में धर्मसेवन नहीं किया है।

मरणभय के कारण—भैया ! अज्ञानी जीव को तो मरण का नाम सुनकर यों भय हो जाता है कि हाय अब यह सब मौज छूटा जा रहा है ये समागम छूट जायेंगे, ये बाल बच्चे परिवार ये सब छूट जायेंगे।

कितनी मेहनत से यह मकान बनाया, इतनी बड़ी जायदाद खड़ी की और यह सब छूटा जा रहा है—इस ख्याल से उस अज्ञानी को मरण का भय बढ़ जाता है। और ज्ञानी हुआ तो मरण का नाम सुनकर यदि कुछ खेद आयेगा तो इस बात का आयेगा कि अहो जिन्दगी व्यर्थ बीत गयी। मैं आत्मदृष्टि धर्म का सेवन नहीं कर पाया और बिना धर्म के यह जीवन चला गया, इस बात का उस ज्ञानी को खेद होता है।

ज्ञाता के मरणभय का अभाव—जिसने अपने जीवन में धर्म की साधना में दृढ़ता की है उसे मरण समय में किसी भी प्रकार का खेद नहीं होता है। वह तो जानता है कि जैसे पूरे के पूरे हम यहाँ है वैसे ही पूरे के पूरे हम जहाँ कहीं भी जायेंगे वहाँ रहेंगे। वह अपने परिपूर्ण आत्मतत्त्व को अपनी दृष्टि में लेता है। जैसे किसी बड़े आफिसर का तबादला हो तो उसे बड़ी सुविधा दी जाती है। एक मालगाड़ी का डिब्बा भी मिलता है। यहाँ भी नौकर चाकर, जहाँ पहुंचेगा वहाँ भी नौकर चाकर। जैसा प्रेम यहाँ के लोगों से रह आया वैसा ही प्रेम जहाँ जायेगा वहाँ के लोगों से होगा। ऐसा जानकर वह हुकुम भर दे देता है कि वहाँ चलना है। लो सारा सामान चकिया चूल्हा, गाय, बछिया तक सब नौकर चाकर उसके संग लिए जा रहे हैं। जहाँ वह पहुंचेगा वहाँ भी व्यवस्था होगी, सत्कार होगा। जहाँ इतने सब साधन मिल रहे हैं वहाँ ऐसे आफीसर को तबादले के समय क्लेश काहे का होगा ? ऐसे ही ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा तबादला हो रहा है, मैं स्वगुणपर्यायात्मक हूँ, सो सर्व स्वगुणपर्याय सहित जा रहा हूँ। उसे क्लेश नहीं होता।

परिपूर्णस्वरूप की प्रतीति—यह शरीर छूटा तो और शरीर मिलेगा। इस स्थान को छोड़ा तो और स्थान पर पहुंच जायेंगे। यहाँ का समागम छूटा तो नया समागम मिलेगा। अथवा इस ज्ञानी जीव को यह विकल्प नहीं होता, वह तो यों देखता है कि अपने अनन्त ज्ञानादिक समग्र गुणों से परिपूर्ण यह मैं लो जा रहा हूँ और परिपूर्ण ही जा रहा हूँ, परिपूर्ण ही रहूंगा। जो मेरा न था वह मेरे साथ न जायेगा। जो मेरा है वह मेरे से कभी छूट नहीं सकता। ये ज्ञानादिक मेरे हैं सो आगे भी सदा साथ रहेंगे। ये समस्त पुद्गल द्रव्य अथवा अन्य भाव द्रव्य ये यहाँ भी मेरे नहीं हैं तो आगे भी मेरे न होंगे, ऐसा जानकर इस ज्ञानी को मरण समय में कोई कष्ट नहीं हैं।

समाधिमरण की साधना—भैया ! मरण समय की साधना बना लेना सर्वप्रथम कर्तव्य है अन्यथा जिन्दगी भर तो किया सब कुछ और मरण समय में रहा संक्लेश तो सब करा कराया व्यर्थ सा हो गया। सबसे बड़ा काम यह पड़ा है कि जीवन भर अपने आपको ऐसी ज्ञान और नीति में लगावें कि मरण समय वेदना का अनुभव न हो। विषय कषाय न जगें, ममता का प्रादुर्भाव न हो और अपने इस चैतन्यस्वरूप को निहारें, जिसके प्रताप से देह से छुटकारा मिले। यह चीज जिन्हें मिली है उन्होंने तो सब कुछ किया और

एक यह न मिली तो उसने कुछ नहीं किया।

परमात्मा के नामों से परमात्मा की विशेषतावों का परिचय—परमात्मा के अन्य नाम अनेक नाम हैं। आप परमात्मा के नाम लेते जाइए व विशेषता जानते जाइये, परमात्मा अक्षय है और रागरहित है, सर्वप्रकार के भयों से परे है, इसमें रंच विकार नहीं हैं, अविकार है, निष्कलंक है, अशंक है, निरंजन है, सर्वज्ञ है। जितने भी भगवान् के गुण हैं उन रूप नाम लेते जाइए, ये सब परमात्मा की विशेषतायें है।

अन्त: परमात्मत्व–समाधितन्त्र में सर्वप्रथम यहाँ से वर्णन उठाया है कि लोक के सब जीवों में ३ प्रकार के जीव मिलेंगे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें उत्कृष्ट आत्मा है परमात्मा और परमात्मा की भी जाति आत्मा और अन्तरात्मा की भी जाति आत्मा। इसलिए यह मैं भी बहिरात्मापन को छोड़कर परमात्मत्व प्राप्त कर सकता हूँ। परमात्मा होने के लिए कोई नई चीज नहीं लानी पड़ती है किन्तु जो नई बात लगी है उसको मिटाना पड़ता है। परमात्मत्व तो स्वरूप ही है। जैसे चौकी को शुद्ध करने के लिए कोई उसमें नई चीज नहीं लगानी पड़ती है किन्तु जो चीज लगी है बीट है, मल है, जो चीज दूसरी लगी है उसको मिटाने की जरूरत है, चौकी शुद्ध हो जायेगी। इसी तरह आत्मा को शुद्ध करने के लिए कोई नई बात नहीं करनी पड़ती है किन्तु जो भूल में नये काम कर डाले हैं उन कामों को दूर करना है। इसका स्वरूप ही परमात्मापन का है।

अज्ञान में अटपट नई बातें—भैया ! बतावो इस अज्ञानी ने नए काम क्या कर डाले ? जो इसके स्वभाव में नहीं हैं, जो इसके सत्त्व के कारण नहीं हैं और लग गयी हैं वे सब नई बातें हैं। अनादि काल की पुरानी होकर भी यह नई बात है क्योंकि स्वरूप में नहीं है। रागद्वेष, विषयभोग, कषाय, ये सब आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, ये परम्परा से लग रहे हैं अनादि से, पर इतने पुराने होते हुए भी चूंकि जब आते हैं तब यों ही आते हैं, स्वरूप से नहीं आते हैं। तो इन लगे हुए उपद्रवों को दूर करने से यह परमात्मत्व प्रकट हो जाता है।

ज्ञायकत्व की टंकोत्कीर्णवत् निश्चलता—जैसे कोई कारीगर पत्थर की मूर्ति बनाता है तो कारीगर वहाँ कुछ नई चीज नहीं लगाता है किन्तु जो प्रकट की जाने वाली चीज है, वे अवयव, अभी मौजूद हैं, कारीगर को दिख गये। अब कारीगर उस भीतर पड़ी हुई मूर्ति के आवरक जितने पाषाण खण्ड हैं, जो आवरण किए हुए हैं उनको दूर करता है। करता कुछ नहीं है नई बात किन्तु जो आवरक हैं उन्हें दूर करता है। उन पत्थरों को दूर करते-करते जब सब आवरण दूर हो जाते हैं, सूक्ष्म आवरण भी दूर हो जाते हैं तब वह मूर्ति प्रकट हो जाती है। यों ही इस परमात्मस्वरूप पर विषय-कषायों के आवरण लगे हैं। ज्ञान की हथौड़ी, ज्ञान की छेनी से ज्ञानरूप कारीगर जब उन आवरणों को हटा देता है तो जो है स्वभावत: वही प्रकट हो जाता है, यही परमात्मस्वरूप है।

श्लोक 7

बहिरात्मेन्द्रिय-द्वारैरात्मज्ञान-पराङ्मुख:।

स्फुरित- स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवश्यति।।७।।

त्रिविध आत्मा के स्वरूप के विवरण में क्रम—बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों को बताने के प्रकरण में सबसे पहिले परमात्मा का लक्षण किया, क्योंकि परमात्मा के सम्बंध में थोड़ा ही कहना था। बनना है परमात्मा। उसका उपाय है अन्तरात्मा होना, इसलिए अन्तरात्मा का वर्णन बहुत अधिक होगा और बहिरात्मा का जो वर्णन किया जाता है उस से भी अधिक होगा। बहिरात्मा का वर्णन परमात्मा से कुछ अधिक किया जायेगा। इस क्रम के अनुसार अब बहिरात्मा का लक्षण किया जा रहा है, बहिरात्मा की विशेषता बतायी जा रही है।

बहिरात्मा की वृत्ति—ये बहिरात्मा जीव इन्द्रियों के द्वार से बाहर की ओर उपयोग दौड़ाता है और आत्मज्ञान से परांगमुख हो जाता है और विषयों में स्फुरित होता है, जागरूक, सावधान, सजग रहता है और इस पद्धति से यह मिथ्यादृष्टि जीव अपने देह को आत्मरूप से निर्णय कर लेता है। लोग तो इन इन्द्रियों से बड़ी प्रीति करते हैं क्योंकि उनके जानने का साधन इन्द्रियां हैं, उनके आनन्द का साधन इन्द्रियां हैं, किन्तु ये इन्द्रिय साधन ज्ञान के परमार्थत: बाधक हैं और इन्द्रियां आनन्द के साधक नहीं हैं, परमार्थत: आनन्द के बाधक है।

इन्द्रिय द्वारों की प्रतिबन्धकता—जैसे एक कमरा है, उसमें चार, पाँच खिड़कियाँ हैं, उन खिड़कियों के अतिरिक्त सब जगह भींत ही भींत बनी हुई है, अब उस कमरे में रहने वाला व्यक्ति उन खिड़कियों के द्वार से देख सकता है। सो वह व्यक्ति भले ही ऐसा माने कि इन खिड़कियों ने मुझे बाहर की बात दिखा दिया। वे खिड़कियाँ साधक हैं या बाधक ? परमार्थत: उसे ज्ञान होना था सब ओर से किन्तु भींत का आवरण होने से अब वह केवल खिड़कियों से ही देख सकता है। यदि ज्ञान का साधन होती तो भींत और खिड़कियाँ मिट जाने पर फिर ज्ञान न होना था। सो इसी तरह ये अंग इस देह के कमरे की भींतें हैं। इस कमरे के भीतर कोई पुरूष पड़ा हुआ है और वह इस स्थिति में इन्द्रिय के द्वार से ही जान सकता है, वस्तुत: इसमें जानने का स्वभाव सर्व ओर से है।

खण्डज्ञान के विचित्र द्वार—देखो भैया ! कैसी विचित्र खिड़कियाँ हैं ये कि कान के द्वार से हम शब्दों की ही बात जान सकेंगे, नेत्र के द्वार से रूप रंग की बात ही जान सकेंगे और कुछ नहीं जान सकेंगे। घ्राण से गंध ही, रसना से स्वाद ही और स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श ही जान सकेंगे। नर इसमें कैद पड़ा हुआ है। कहां तो यह ज्ञानमय भगवान् आत्मा जो अपने स्वरूप के कारण ही समस्त विश्व का ज्ञाता हुआ करता है और

कहां यह बंधन, कहां यह कारागार जैसे कैदखाना। इस देह से यह कैसा बँधा हुआ है जो जंगल के शेर में होता है। इसी तरह हम आप इस देह के कटघरे में बंद हैं, पर शौर्य स्वभाव हम आपका वही है जो प्रभु का है पर बंधन ऐसा बँधा हुआ है कि यह आत्मा इन्द्रिय के द्वार से जानता है, सो क्या हानि है इससे इसे परखिये।

प्रतिबन्ध में तृष्णा की उत्कटता—भैया ! कुछ प्राकृतिक बात ऐसी है कि रूकावट के साथ जानता हो तो उसमें तृष्णा बढ़ती है और बिना रूकावट के जानना हो तो उसमें तृष्णा नहीं होती है। जैसे किसी बच्चे को ऊधम करने से रोको तो उसकी हठ ऊधम करने की ही होगी और उससे कहो कि करो खूब ऊधम और ज्यादा ऊधम करो तो उसकी चाल में फर्क पड़ जायेगा। बच्चे को कहीं जाने की इच्छा हो और बहुत रोवे और अपन उसे वहीं रोके रहें तो उसकी यह आंतरिक इच्छा बनेगी कि हमें तो जाना ही है और उसे रूकावट न हो तो थोड़ा चलकर लौटकर वहीं रमेगा। इन्द्रिय द्वार से जानने के कारण उसके ज्ञान में और धैर्य में रूकावट होती है। ऐसी स्थिति में जब वह थोड़ा कुछ जानता है तो जानने की तृष्णा होगी, कुछ सुख पाया है तो वहाँ सुख भोगने की तृष्णा होगी। भगवान् सर्वज्ञदेव समस्त लोक अलोक द्रव्यगुण पर्याय त्रिकालवर्ती समस्त दशावों को जानते हैं। इस कारण उन्हें कोई प्रकार का खेद नहीं होता है। खेद मानते हैं कम जानने वाले। सर्व कुछ जानन में आ गया, अब खेद किस बात पर हो और सर्व कुछ जानन में आ गया तो आवश्यकता किस बात की ? फिर वह प्रभु निराकुल, शांत, बीततृष्ण हो जाता है।

इन्द्रियों की प्रीति और मिथ्या आशय—यह बहिरात्मा इन्द्रियों से प्रीति किए हुए है। क्यों न करे प्रीति ? इसको यह भ्रम हो गया है कि मुझे जितना सुख होता है वह इन इन्द्रियों के कारण होता है। इस जीव से मुझे बड़ा सुख ही सुख हुआ करता है। मनमाना आम चखें और नाना व्यंजन खावें बड़ा स्वाद आता है, मौज मानते हैं। पर यह जगत गोरखधंधा है। इस सुखाभास में उलझे तो इसे क्लेश ही क्लेश है। इस सुखाभास से मुख मोड़े और अन्तर में मैं आनन्दस्वभावी हूँ ऐसी पहिचान करे तो इस जीव को अनुपम आनन्द प्रकट हो। पर मोह का ऐसा भूत नाच रहा है कि हम सब संसारी जीव गम नहीं खाते हैं। मरण के बाद सब छूट जायगा मगर जीवनकाल में इतनी भी भावना नहीं ला पाते कि ये सब छूट जायेंगे। इतना तक भी ख्याल करने के प्रमादी हो रहे हैं। यदि इतना भी ध्यान में हो कि यह सारा बखेड़ा छूट ही जायेगा। तो इस भावना में भी बहुत सी निराकुलता जग जायगी। पर यों ध्यान जाता है कि छूटता है दूसरों का, हमारा क्यों छूटेगा ? ऐसी कुछ कल्पना लिए हुए हैं, अपने आपको मृत्यु पर विश्वास ही नहीं बनता है। अपने आपकी अनिष्ट बात पर विश्वास ही नहीं आता है। मरते हैं तो कोई दूसरे मरा करते हैं।

ऐसा उल्टा देखने की चश्मा पाटी लगा रखी है।

क्लेश का कारण उद्दण्डता—ये बहिरात्मा जीव इन इन्द्रियों के इतने अधीन हैं कि आत्मज्ञान से ये बिल्कुल विमुख हो रहे हैं। इस जीव का अकल्याण है देह की वांछा और विषयों का उपद्रव। तीसरा कोई क्लेश नहीं है। देख लो यह सबसे न्यारा है, ज्ञानादिक गुण सम्पन्न है, मेरा है यह कभी छूट नहीं सकता। जो मेरा है नहीं, वह मेरा कभी हो नहीं सकता। कौनसा क्लेश है ? हम आपको बतलावें, पर क्लेश सभी माने हुए बैठे हैं। अभी यह नहीं हुआ, अभी इतना कमती रह गया है। अच्छा धन कम हो जायगा तो उससे क्या बिगाड़ हो जायगा सो बतलावो। आज यह वांछा है कि एक लाख हो जाये तो हम धनी हो जायें। तो क्या यह आशा की जा सकती है कि एक लाख हो जाने पर फिर आगे तृष्णा न रहे या आकुलता न रहे। जितना वैभव होगा उसकी व्यवस्था में उतना ही मन चलता होगा, उतनी ही दौड़धूप होगी।

यथार्थज्ञान व अज्ञान की करामातें—भैया ! जो यथार्थ निर्णय कर के लौकिक सम्पदा को पुण्योदय पापोदय पर छोड़ते हैं उनसे तो व्यवस्था सहज बनती है और जो कर्तृत्वबुद्धि किए हुए हैं—मैं करता हूँ तो होता है ऐसा, मैं न करूँ तो कहां से परिवार का पोषण हो ? दूसरे जीवों से भाग्य का भरोसा नहीं, इस कारण कर्तृत्वबुद्धि बनाए हुए है। सो पता नहीं कि मालिक बन रहे हैं या चाकर बन रहे हैं। कल्पना तो यह बन रही हैं कि मैं घर का मालिक हूँ और करतूत में यह बात है कि घर के उन ५, ७, १० आदमियों का यह चाकर बन रहा है। उनके पुण्य का उदय है सो उन्हें भी तो सुख मिलना चाहिए। उनके सुख में कोई न कोई निमित्त तो होना ही चाहिए सो वह निमित्त होता है, अथवा न कोई मालिक है, न कोई चाकर है। सबका अपने-अपने भवितव्य के अनुसार सब हो रहा है। कर्तव्य तो अपना यही है कि जो बात दुर्लभ है अन्य भवों में नहीं की जा सकती है ऐसा काम कर जाय तो भला है। विषयों का पोषण और कषायों में गुजारा करना यह तो अन्य भवों में भी होता है। होता है उन भवों में उन जैसा तब बात तो एक ही है। यदि उन विषयों में ही प्रवृत्ति रही तो मनुष्य हुए न हुए बराबर ही तो रहा। कुछ अन्तर भी है क्या ?

नश्वर जीवन में सर्वोत्कृष्ट लाभ–अहो, दमादम क्षण बीते जा रहे हैं। जैसे पर्वत से गिरने वाली नदी वेगपूर्वक बही जा रही है तो उसका पानी उलटकर नहीं जाती, इसी तरह आयु के क्षण दमादम बीते जा रहे हैं। कभी भी यह नहीं हो सकता कि जो एक साल व्यतीत हो गया है वह एक साल वापिस हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। समय गुजर रहा है अपनी रफ्तार से। मृत्यु के निकट रोज ही रोज पहुंच रहे हैं। अगर ६० वर्ष जीना है और आज ४० वर्ष के हो गए तो अब २० वर्ष ही तो मृत्यु के निकट हैं। और ४१ वर्ष के हो गए तो १९ वर्ष ही तो मृत्यु के निकट हैं। ऐसा होते-होते कभी एक दिन वह भी निकट आ

जायेगा और कभी मृत्यु भी हो जायेगी। इस नश्वर जीवन में सर्वोत्कृष्ट लाभ लो। सर्वोत्कृष्ट वैभव है अपने आपके ज्ञानानन्द स्वभाव का जो कि निर्विकल्प है, आनन्दघन ज्ञान से निर्भर है। उसका परिचय होना, दर्शन होना ऐसा जो गुप्त अपने आपमें अपना कार्य है उससे बढ़कर दुनिया में और कोई कार्य नहीं है।

कैवल्य की महानीयता–हम तीर्थंकरों को पूजते हैं और भी श्रीराम हनुमान जी आदि जो भी मुक्त हुए हैं उनको भी पूजते हैं, क्या है उनके पास घर भी नहीं रहा, कुटुम्ब भी नहीं है, वैभव भी नहीं है और फिर भी हम पूज रहे हैं तो कुछ तो बात होगी। कुछ क्या उनमें सारी बात है। वे ज्ञान और आनन्द की महिमा त्यों-त्यों प्रकट होती है ज्यों-ज्यों इस जीव के आकिंचन्य भाव बढ़ता जाता है। मैं देह से भी न्यारा ज्ञानमात्र हूँ। ऐसे ज्ञानतत्त्व की उपासना से अपने आप में निर्मलता बढ़ती है, कर्मभार कम होता है और जो यथार्थ ज्ञान है, यथार्थ आनन्द है उसमें प्रवेश होता है।

इन्द्रियों की प्रीति का कारण–बहिरात्मा जीव इन इन्द्रियों से इस देह से अपनी प्रीति बनाए हुए है। जरा सा भींत की कलई का दाग तो हाथ में लग जाय उसे छुटाए बिना, और ज्यादा नवाब साहब हों तो साबुन से धोये बिना चैन नहीं पड़ती है। हालांकि ये भी बातें होती रहो, किन्तु भीतर की रूचि की बात देखो। देह और इन्द्रिय से न्यारा और कुछ मैं हूँ ही नहीं, ऐसी धारणा लिए हुए यह बहिरात्मा इन्द्रिय के द्वार से देखता है, जानता है इस कारण इन्द्रियों में ही प्रेम बढ़ाता है और अतिन्द्रिय निर्विकल्प जो अपना स्वभाव है ज्ञानानन्द, उसकी दृष्टि नहीं करता है।

बहिरात्मत्वदृष्टि–बहिरात्मत्वदृष्टि में फल यह होता है कि जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो हड्डी में कुछ दम नहीं है, हड्डी सूखी है लेकिन चबाने में खुद के मसूड़े फूट जाते हैं और उसका खून स्वाद में आता है तो कुत्ता मानता यह है कि यह स्वाद तो हड्डी से आया। सो वह उस हड्डी की रक्षा करता है। एकांत में जाता है, दूसरे कुत्ते से लड़ता है कहीं यह छुड़ा न ले जाय। यों ही बहिरात्मा जीव को जो सुख मिल रहा है वह विषयों में नहीं मिल रहा है किन्तु स्वयं का जो आनन्दस्वभाव है उसके उपभोग से सुख मिल रहा है पर मानता यह है कि मुझे विषयभूत पदार्थों से सुख मिल रहा है। सो उनके संचय में, उनकी रक्षा में, उनको एकांत में सुरक्षित रखने में इसका उपयोग जाता है और दुःखी रहा करता है।

रोगपरिचयपूर्वक चिकित्सा–भैया ! यह बहिरात्मा की दशा बतायी जा रही है। जैसे पहिले रोगियों को रोग बताया जाता है दवा पीछे बतायी जाती है। रोगी लोग इसे जानते हैं कि रोग का पहिले निर्णय हो जाय कि वैद्य महाराज ठीक कहते हैं, इन्होंने हमारे रोग को समझ लिया है। तो वैद्य पूछता है कि तुम्हारे पेट में अफारा रहता है कि नहीं ? अरे अफारा तो सर दर्द में रहे, पेट दर्द में रहे, अन्य रोगों में रहे (हँसी)। तो पहिले यह रोग बताया जाता है, पीछे इलाज बताया जाता है, ऐसे ही आचार्यदेव पहिले रोग बता रहे है कि देखो ऐसी बात है कि नहीं। यह मोही जीव इन्द्रिय द्वार से जानता है, देखता है और बाहर को भागता है, अपने को रीता रखता है, आत्मज्ञान से विमुख हो जाता है, विषयों में उलझा रहता है। ऐसा प्राणी देह को ही मानता है कि यह मैं हूँ। और भी विशेषरूप से यह जीव अपनी देह में कैसी आत्मीयता रखता है ? इस विषय में अब आगे कहा जायेगा।

बहिरात्मा जीव अपने आपको किस-किस प्रकार मानता रहता है, इस विवरण को दो श्लोकों में बताया जा रहा है।

श्लोक 8 - 9

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा।।८।।
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्ति: स्वसंवेद्योऽचलस्थिति:।।९।।

व्यामोह से आत्मा में नरत्व की मान्यता–बहिरात्मा पुरूष मनुष्य के शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य मानता है। नरदेह जड़ है, आहार वर्गणावों के स्कंधों का पिण्ड हैं और यह आत्मा चेतन है, ज्ञान दर्शन स्वभावी है, ऐसा अत्यन्त भिन्न है, फिर भी चूंकि उपाधि के वश शरीर के साथ बंधन लगा हुआ है ऐसी स्थिति में बहिरात्मा पुरूष मनुष्य देह में रहने वाले आत्मा को समझता है कि यह मनुष्य है। मनुष्य पर्यायें जीव, कर्म व शरीर ऐसे अचेतन की पिण्डरूप पर्यायें हैं, इन्हें असमानजातीय द्रव्यपर्यायें कहते हैं। शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर में अनुभव नहीं होता है, मुझमें अनुभव होता है। ऐसा प्रकट जुदा हूँ, फिर भी मोही जीव देह से भिन्न आत्मा का परिचय नहीं पा सकता और यह मानता है कि मैं मनुष्य हूँ।

आये थे हित काम को धोने लगे हैं चाम–जहां मनुष्य शरीर में आत्मा की बुद्धि की, शरीर को आपा माना तो फिर शरीर के पोषक शरीर के सम्बंधी इन सब जीवों को भी अपना मानने लगा। इस जीव ने अपने

स्वरूप की दृष्टि को त्याग दिया और अचेतन पदार्थों से यों कहिए सिर मारने लगा-जैसे कहते हैं ना कि 'आये थे हित काम को धोने लगे हैं चाम।' इस मनुष्यभव में जन्म तो इसलिए हुआ कि अन्य अनेक भवों में इस जीव को उद्धार का अवसर नहीं मिलता। एक मनुष्यभव ही संसार-संकटों से छुटकारा पाने का अवकाश देता है। सो पा तो लिया मनुष्यभव, किन्तु विषय कषाय मोह राग इनमें ही समय बिताया। आये थे प्रभुभजन को और धोने लगे हैं चाम। शरीर की परवाह करने लगे हैं, इसको देखकर फूले नहीं समाते हैं।

बाहरी ममता–देखो भैया ! कैसी ममता है, बूढ़े भी हो जायें, कपोल भी सूख जायें, हड्डी भी निकल आयें, फिर भी अपना यह शरीर ही प्रिय लगता है। एक तो शरीर की वेदना नहीं सही जाय यह बात अलग है और शरीर में ही आपा समझकर उसमें प्रीति बुद्धि की जाय, यह बात जुदा है, जैसे कोयला को कितना ही घिसो निकलेगा काला ही काला। साबुन लगा दो तो कोयला सफेद नहीं हो जायेगा, ऐसे ही शरीर है, कितना ही इसे सजावो, कितना ही साफ करलो, इसमें असार ही असार बात निकलेगी। अपवित्र गंदी-गंदी ही धातु उपधातुयें निकलेगी। किन्तु वाह रे मोह की लीला कि इस निज सहजस्वरूप को तो यह आत्मा भूल जाता है और देह ही सार सर्वस्व है ऐसा मानने लगता है।

सकलसंकटों का मूल–सारे संकट इस बात पर आए हैं कि इसने देह को आत्मा माना है। दुनिया में सम्मान अपमान, प्रशंसा निन्दा, पोजीशन, तृष्णा ये सब भी शरीर को आत्मा मानने के विकल्प पर चलते हैं। जितने भी संकट हैं सर्वसंकटों का मूल देह को आत्मा मानना है। ये बहिरात्मा जीव अपने को मान रहे हैं कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं ? शरीरों की कितनी विभिन्नता है कि सूक्ष्म स्थूल भेद करके शरीरों की जातियां १२ लाख, करोड़ हो जाती हैं। जो जीव जिस देह में जाता है उस देह में ही इसकी ममता जग जाती है, यों ही जब यह तिर्यंच की देह को धारण करता है तो अपने को तिर्यंच मानने लगता है।

पर्यायव्यामोह–एक कथा प्रसिद्ध है कि राजा ने मुनि से पूछा कि महाराज मैं मर कर क्या बनूंगा ? मुनि अवधिज्ञानी थे। सो उन्होंने बताया कि तुम अमुक दिन इतने बजे मरोगे और अपने घर के संडास में कीड़ा बनोगे। राजा को बड़ा खेद हुआ। कहां तो मैं राजा, लोग हजूरी में आते हैं। इतना मेरे ऐश्वर्य हैं और कहां मरकर मैं मलकीट बनूंगा, तो पुत्रों को हुक्म दिया कि देखो इतने समय पर अमुक दिन अमुक स्थान पर मैं मरकर मलकीट बनूँगा सो तुम हमें वहाँ आकर मार डालना क्योंकि वह बहुत बुरी पर्याय है। वह राजा मरकर उसी स्थान पर मलकीट हुआ, पुत्र पहुंचा उस कीट को मारने के लिए तो वह कीट डर के मारे मल में ही घुस गया। तो राजपुत्र जाकर मुनि से पूछता है कि महाराज मेरे पिता यों कह गए थे, सो मैं वहाँ मारने पहुंचा तो वह कीट जान बचाकर मल में घुस गया। मुनि कहता है कि जगत् के मोही जीवों की

ऐसी ही परिस्थिति है। वह जिस देह को धारण कर लेता है उस देह में ही रम जाता है। गधा सूकर और भी निंद्य पशु कौवादिक पक्षी बन गया तो यह अपने ही शरीर से प्रीति करने लगता है।

मोहियों का व्यामोह–भैया ! जो काम बड़े मोही प्राणी कर रहे हैं वही काम गधा सूकर भी कर रहे हैं। विषयों का सेवन करना और शरीर में आपा मानकर मस्त बने रहना यह काम सूकर भी करते हैं, यह काम मनुष्य भी करते हैं, यही काम संसार के अनेक जीव करते हैं। कोई मन वाले तिर्यंच हैं तो वे भी सोच समझ सकते हैं–मैं यह हूँ। कोई मन वाला नहीं है तो वह संज्ञियों की तरह विकल्प नहीं कर सकता। फिर भी शरीर में आपा मानता है। एकेन्द्रिय पेड़ आदि ये भी अपने शरीर को आत्मा मानते हैं। जितना उनमें ज्ञान है उसके अनुसार वे अपनी देह में ही आसक्त हो रहे हैं। जिस भव में जाता है उस ही भव के अनुसार इस जीव की प्रकृति बन जाती है। आज मनुष्य है सो पलंग में गद्दा बिछाकर सोते हैं और आसपास सुहावनी वस्तुयें भी लगा लेते हैं और मरकर गाय बैल हो गए तो जैसी जमीन मिली, गोबर मिट्टी, कीचड़ से भरी उसी में पड़ गए। पर पर्याय ऐसी हैं कि वहाँ भी इसी तरह रम जाते हैं।

व्यामोह से आत्मा में तिर्यंचरूप की कल्पना–यह बहिरात्मा जीव कैसा परतंत्र और दीन बन रहा है अपने आपके स्वरूप की सम्भाल के बिना तिर्यंच की देह में पहुंचता है तो यह जीव अपने को तिर्यंच मानता है। न शब्दों से माने, पर जो देह धारण किया सद्रूप ही अपने को मान डालता है। भ्रम का क्लेश बहुत बड़ा क्लेश होता है। भ्रम में कुछ सूझता ही नहीं है। रागद्वेष में तो फिर भी अक्ल ठिकाने रहती है किन्तु मोह में, भ्रम में मिथ्यात्व में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है।

अगृहीत व गृहीत मिथ्यात्व–ये सब अगृहीत मिथ्यात्व की बातें चल रही हैं। कुगुरू, कुदेव, कुशास्त्र को देव, शास्त्र, गुरु मानना यह सब है गृहीत मिथ्यात्व। जिन जीवों के गृहीत मिथ्यात्व है उनके अगृहीत मिथ्यात्व तो है ही, पर ऐसे भी जीव बहुत से हैं कि जिनके अगृहीत मिथ्यात्व तो है और गृहीत मिथ्यात्व नहीं है। देह और जीव को एक माने यह है अगृहीत मिथ्यात्व। इसके वश अज्ञानी जीव परतंत्र हो रहे हैं। कुगुरू, कुदेव, कुशास्त्र को गुरु मानना यह सिखाई हुई बात है, दोस्त सिखा दें, माता पिता सिखा दें, सिखाई हुई बात है पर शरीर को आपा मान लेना यह किसी की सिखाई हुई बात नहीं है, इसमें यह प्रकृत्या चल रहा है।

भव की अनुसारिणी प्रवृत्ति–यह बहिरात्मा जीव तिर्यंच के शरीर में पहुंचता है तो यह अपने को तिर्यंच मानने लगता है। कैसी-कैसी विलक्षण दशाएँ हो जाती हैं। जीव यही एक है। आज मनुष्यभव में मनुष्य जैसा शरीर मिला और मरकर हो गए साँप गुहेरे छिपकली तो उन जैसा ढांचा उन जैसा चलन फिरन, सब वैसी ही बातें हो जाती हैं। भैया ! अपन ने यहाँ कोई ऐसी महत्त्व की चीज नहीं पा ली है धन वैभव

समागम परिचय जिनमें कि आसक्त रहा जाय, मस्त रहा जाय। ये जितने काल हैं उतने काल भी भिन्न हैं और वियोग तो होगा ही। जिनको समझते हैं कि मेरे घर के हैं उनके अर्थ तो तन, मन, धन, वचन जो कुछ भी पाया है सब स्वाहा कर देता है और यह खुद बन जाता है रीता का रीता ही।

नश्वर समागम का सदुपयोग–भैया ! यहाँ तो यह सब मुफ्त ही मिला और मुफ्त ही जायेगा। विवेकी पुरूष वह है कि मुफ्त मिला है तो इसका सदुपयोग कर जाय। जिनमें मोह है ऐसे मोही पुरूषों में अपना धन खर्च करता जाय तो यह उदारता नहीं है और लोभ का त्याग नहीं है किन्तु जिनसे सम्बंध नहीं है उन दीन दुःखी गरीबों के लिए कुछ व्यय हो अथवा जीवोद्धार धर्म के कोई काम हों और उनमें व्यय हो तो समझो कि मुफ्त मिली हुई चीज का हमने सदुपयोग किया।

सत्कर्तव्य की प्राथमिकता–एक मनुष्य को एक वर्ष को तो लिखे गये भाग्य में अच्छे दिन, सम्पदा मिले, भोग मिले, आराम मिले, और मान लो कि ५९ साल को मिले दुःख के दिन। तो मिल जाने दो, अगर बुद्धिमानी से काम लिया तो वह यह करेगा कि पहिले सुख का वर्ष मांग लेगा, बाकी वर्ष फिर बितायेगा। सुख के वर्ष में विषयों की आकांक्षा न रखकर तप, दान, संयम, त्याग परोपकार सेवा इनमें ही व्यतीत करेगा। ऐसी विशुद्ध करनी से पापकर्मों का संक्रमण हो जायेगा और बाकी वर्ष भी उसके अच्छे गुजर जायेंगे। वर्तमान परिणाम सम्भाला तो समझ लीजिये कि हमने अपना सारा भविष्य संभाल लिया। बने रहने दो पापकर्म भव-भव के बाँधे हुए, कुछ हर्ज नहीं है। किन्तु वर्तमान में परिणाम निर्मल हों, शुद्ध ज्ञान भावना हो तो उसके प्रसाद से सर्व पाप कर्म दूर हो जाते हैं।

ज्ञानकला–जैसे कोई समर्थ अधिकारी है और दूसरे लोग गड़बड़ करें तो वह देखता रहता है। क्या हर्ज है, करने दो। जिस समय चाहेगा उसी समय वह मिटा सकता है। यों ही इस ज्ञानी जीव के भी पूर्वभवों के बाँधे हुए पापकर्म इकट्ठे हैं, तो रहने दो। जान रहे हैं ज्ञानी कि ये पृथ्वी पिण्ड के समान हैं। यदि वर्तमान में निर्मल परिणमन हो तो उन कर्मों में भी फेर हो जायेगा। इससे इन सर्व संकटों से बचने का उपाय मात्र आत्मा को आत्मस्वरूप से परख लेना है।

मूल भूल पर भूल के पूल–यह व्यामोही आत्मा तिर्यंच की देह में पहुंचता है तो अपने को तिर्यंच मानता है, देव के शरीर में पहुंचता तो अपने ही देव मानता है। यह सुधि भूल जाता है कि मैं परमार्थ सत् अखण्ड अव्याबाध एक चेतन तत्त्व हूँ। मूल बात भूल जाने पर फिर ऊपर की जितनी क्रियाएँ होती हैं वे सब भूल वाली होती है। जैसे औंधी डेगची धर देने पर ५, ७ डेगची धरें तो औंधी ही धरी जायेंगी और सीधी पतीली रखने पर सीधी ही उसके ऊपर धरी जावेंगी। ऐसे ही मूल में सम्यग्ज्ञान होने पर जो हमारी वृत्ति होगी वह सब भूलभरी होंगी। तो देह को आपा मान लेना यह सबसे बड़ी भूल है और इस भूल के होने पर फिर सारी विडम्बनाएँ लग जाती हैं।

अपूर्व कार्य के लिए प्रेरणा–भैया ! सभा सोसाइटियों में इज्जत पाने की गोष्ठी में अपने आपकी पोजीशन बढ़ाने आदिक में जैसा श्रम किया जाता है, हित माना जाता है। तो जहाँ पचासों काम कर डाले हित के ख्याल से वहाँ एक काम यह भी तो करके देखो कि अपने सहजस्वरूप को परमार्थ जानकर बाह्य विकल्पों को त्याग दें और परम विश्राम से स्थित हो जायें, ऐसी स्थिति में जो आनन्द प्रवाह बढ़ेगा उस अनुभव के बल पर इसे सम्यक्त्व होगा, चारित्र बढ़ेगा व मोक्षमार्ग में चलेगा। इसके सब संकट अब दूर होने का समय आ गया ऐसा जानना चाहिए।

बहिरात्मवृत्ति प्रदर्शन–यहां बहिरात्मावों की वृत्ति दिखाई जा रही है कि वे यह करते क्या हैं ? जिस देह में पहुंचा, जिस भव के शरीर में पहुंचा उस भव के शरीररूप ही यह अपने को मानने लगता है और ऐसा मानने पर इस पर सर्वसंकट छा जाते हैं। अब बहिरात्मा की प्रवृत्ति में और आगे जो शेष रहा है इसी प्रकार से उसे कहेंगे।

नारकत्वव्यामोह–पर्याय व्यामोही, अज्ञानी पुरूष जिस जिस पर्याय में पहुंचता है उस उस पर्याय को आत्मारूप से मानता हैं। जब यह नारकी के शरीर में पहुंचता है तो नारक देह में रहने वाले अपने आत्मा को यह नारकी मानता है। नारकी जीव नीचे सात पृथ्वियों में रहा करते हैं और उन पृथ्वियों के मध्य में हजारों लाखों मील के लम्बे चौड़े बिल हैं। जिस जमीन पर हम आप रहते हैं यह एक पृथ्वी है। इस पृथ्वी के नीचे तीन हिस्से हैं। तो ऊपर के दो हिस्सों में भवनवासी और व्यंतर के देव रहते हैं, तीसरे में नारकी रहते हैं। उसके नीचे कुछ आकाश छोड़कर एक पृथ्वी और लग गयी है उसमें दूसरे नरक के नारकी रहते हैं। फिर उससे नीचे कुछ आकाश छोड़कर तीसरी पृथ्वी है, उसमें चौथा नरक है, फिर कुछ आकाश छोड़कर चौथी पृथ्वी है उसमें चौथा नरक है, फिर कुछ आकाश छोड़कर ५ वीं पृथ्वी है उसमें ५ वां नरक है। फिर कुछ नीचे नीचे कुछ आकाश छोड़कर छठी पृथ्वी है उसमें छठा नरक है, फिर कुछ आकाश छोड़कर नीचे ७ वीं पृथ्वी है, उसमें ७ वें नरक के नारकी हैं।

पृथ्वियों का आधार–सातवीं पृथ्वी के नीचे केवल हवा-हवा है, वातवलय है। उन वातवलयों में स्थावर जीव हैं और मुख्यतया निगोद जीव हैं। लोग कहा करते हैं कि यह पृथ्वी शेष नाग के फन पर सधी हुई है। शेषनाग का अर्थ क्या है ? कोई सर्प नहीं है जो फन वाला हो। यदि ऐसा हो तो कभी फन के थक जाने पर पृथ्वी उलट-पलट जाय। उसका अर्थ है नाग मायने हुआ। इसमें तीन शब्द हैं-न, अ, ग। ग कहते हैं जाने वाले को गच्छति इति ग:। न ग: इति अंग:। जो न जाय उसे अग कहते हैं। तो जो न जाय वह है पर्वत। अचल चीज, जो स्थिर रहे और न अंग: इतिनाग:। जो स्थिर न हो उसे नाग कहते हैं। तो नाग कहो या ग कहो उसका अर्थ है जो स्थिर न रहे, सदा चलित रहे उसे नाग कहते हैं। सदा चलती रहे ऐसी

चीज है हवा और शेष का अर्थ है बची हुई। सर्व पृथ्वियों के नीचे हवा रहती है। ये जो ७ पृथ्वियां हैं इन प्रत्येक के नीचे हवा है और चारों दिशावों में हवा है। तो यह पृथ्वी हवा पर सधी हुई है। तो शेष नाग का अर्थ है शेष की बची हुई वायु। उस वायु पर पृथ्वी आधारित है।

नारकियों का क्लेशमय वातावरण–यह नारकी जीव उन पृथ्वियों के ऊपर नहीं रहता, किन्तु ठीक मध्य में ऐसे ही बड़े बिल बने हुए हैं जिन में वे नारकी जीव रहा करते हैं। उनका देह दुर्गन्धित वैक्रियक है कोई तलवार से खण्ड-खण्ड कर दे तो भी पारे की तरह फिर एक हो जायें और शरीर फिर तैयार है। वे नारकी जीव चाहते हैं कि मेरी मृत्यु हो जाय पर जितनी आयु उनकी है उनके पहिले वे मरते ही नहीं हैं। यहाँ मनुष्य चाहते हैं कि हम अभी न मरें। लेकिन उनकी आयु बीच में ही कट सकती है। नारकी चाहते हैं कि अभी मर जायें, बड़े क्लेश हैं पर वे नहीं मरते हैं। तीन आयु पुण्यरूप हैं और नरक आयु पापरूप है। जो जीव मरना नहीं चाहता उसकी आयु पुण्यरूप है और जो मरना चाहता है उसकी आयु पापरूप है। तिर्यंच भी कोई मरना नहीं चाहता पशु, पक्षी आदिक। मनुष्य भी और देव भी मरना नहीं चाहते। नारकी चाहते हैं कि हम मर जायें पर पूर्ण आयु से पहिले नहीं मरते। उनके देह के खण्ड-खण्ड हो जायें तो भी पारे के समान सब एकरस हो जाते हैं।

नारकियों की अशुभ विक्रिया–नारकी जीवों का शरीर दुर्गन्धित होता है, विक्रिया भी होती है। वे सुन्दर रूपवान् अपने शरीर की विक्रिया नहीं कर सकते। खोटा करेंगे। निकले दाँत, उठी हुई सींग, जैसे कि आप चित्रों में देखा करते हैं, ऐसी कठिन विक्रिया उनके होती है। उन्हें करोंत चाहिए हो कि किसी के दो टुकड़े कर दें तो हाथ ही करोंत बन जाते हैं। जो हथियार चाहिए हो छुरी तलवार सब उनके अंग बन जाते हैं। उनमें विक्रिया है, मनुष्य में विक्रिया नहीं है। बहुत सी बातें तो मनुष्य की भी बन जाती है। अंजुल की ही कटोरी कल्छुली बन गयी, मुट्ठी बाँध लिया मुगदर सा बन गया, थप्पड़ लगा दिया वह प्रहारक बन गया, लो अपन दसों चीजें बना डालते हैं, विक्रिया नहीं है तिस पर भी नारकी जीवों के तो वे नाना प्रकार के शस्त्र बना डालते ऐसी उनकी अशुभ विक्रिया है। नारकी जीवों के चैन नहीं है। रात दिन वहाँ हैं ही नहीं, अँधेरा ही अँधेरा है। ऐसे नारक देह में रहने वाला आत्मा अज्ञानवश अपने को समझता है कि मैं नारकी हूँ।

भ्रम और वस्तुस्थिति–यों अज्ञानवश यह जीव मनुष्य देह में पहुंचा तो मानता है कि मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंच देह में पहुंचा तो मानता है कि मैं तिर्यंच हूँ, देव के शरीर में पहुंचा तो अपने को देव मानता है। नारकी के शरीर में पहुंचा तो अपने को नारकी मानता है, किन्तु वास्तव में यह जीव उस प्रकार है नहीं। यह तो अनन्त ज्ञान की शक्ति वाला अपने आपके ज्ञान के द्वारा ही अनुभव में आ सकने योग्य जिसका स्वरूप कभी भी चकित नहीं होता है ऐसा यह मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्य स्वरूप हूँ किन्तु बहिरात्मा जीव इस

स्वरूप के राज को भूल गया है और बाहर में निरखा तो जो परिणति मिली है उस ही परिणति में यह आत्मीयबुद्धि करने लगता है। तो ऐसी अनन्त ज्ञानशक्ति वाला स्वसम्वेद्य अचल स्वभाववान् हूं–ऐसा जो अपने में विश्वास रखता है और ऐसा ही दर्शन करता है उस पुरूष को जगत् के पदार्थों के परिणमन में व्यग्रता नहीं होती क्योंकि वह समझता है कि मैं स्वसम्वेद्य हूँ और अचल स्थिति वाला हूँ, इस प्रकार तो यह अपने देह में ममताबुद्धि करता है और बाहर में अनेक जीवों को देखता है तो वहाँ क्या निर्णय करता है इस सम्बंध में आचार्यदेव कह रहे हैं–

श्लोक 10

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति।।१०।।

परदेह में पर आत्मा का भ्रम–जैसे अपना आत्मा जिसमें विराजमान है ऐसे देह को यह मोही जीव मानता है कि यह मैं आत्मा हूँ इस ही प्रकार दूसरे लोग भी उन अधिष्ठित पर देहों को देखकर ऐसा मानते हैं कि ये दूसरे हैं, पर को पर जानना अच्छा है किन्तु ये तो परदेह को ही पर आत्मा देख रहे हैं, ऐसे मिथ्यात्व से छूटा नहीं है। अज्ञान बना हुआ है। दूसरे की देह में भी तो यों दिखता है कि यह देह भी परवस्तु है और इस देह में रहने वाला जो यह आत्मा है यह भी पर है तब तो उसका ज्ञान ठीक था किन्तु जैसे स्वाधिष्ठित देह को माना है कि यह मैं हूँ इसी तरह दूसरे के देह में यह मानते हैं कि ये परजीव हैं। इस तरह बहिरात्मा को अपने आप में भी भ्रम है और अन्य जीवों के स्वरूप में भी भ्रम है।

देह में आत्मत्व के भ्रम का कारण–भैया ! निज को निज पर को पर जान। कब यह हो सकता है ? जब वस्तु की मर्यादा का पता हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ किस रूप है, यह ज्ञान में हो तो यह निर्णय कर सकते हैं कि यह तो मैं हूँ और बाकी सब पर हैं। देह में आत्मा समझ लेने का भ्रम मान लेने में एक यह भी सहयोगी कारण है कि यह देह बहुत वर्षों तक विघटता नहीं है। ज्यों का त्यों बना रहता है। अनेक शरीरों के स्कंध आते हैं और अनेक जाते हैं। तो इस शरीर में अनेक परमाणु आए और अनेक परमाणु चले गए। यह तो तांता प्रति समय लगा रहता है लेकिन इस स्थिति में जो शरीर की स्थिरता रहती है उस स्थिरता के कारण यह भ्रम हो गया है कि यह मैं आत्मा हूँ।

पुद्गल स्कंधों में परमार्थभूत पदार्थ–इस देह में यह देह पदार्थ नहीं है किन्तु जिन एक-एक अणुओं से यह देह सिंचित हुआ है वे एक-एक परमाणु परमार्थभूत पदार्थ हैं। इस मोही जीव की पदार्थों पर दृष्टि नहीं

जाती है, पर्याय पर दृष्टि जाती है। जहाँ ही यह निगाह डालता है वहाँ ही देखता तो है पर्याय को, मगर मान जाता है कि यह सर्वस्व द्रव्य है। क्या दिखता है-ये चेतन, अचेतन, भींत, किवाड़, कुर्सी, टेबल, कांकर पत्थर, सोना, चाँदी, तांबा ये सब अचेतन ही तो हैं। ये अचेतनद्रव्य नहीं है किन्तु परमार्थभूत एक-एक परमाणु जो कि द्रव्य है उनका सम्बंध बनाकर एक समानजातीय द्रव्यपर्याय हो गया है। मोही जीव इसे पर्यायरूप से नहीं जान सकता। पर्याय को पर्याय जाने तो वह ज्ञान झूठा नहीं है किन्तु वह पर्याय को आत्मारूप से जानता है। कोई झूठ को झूठे जाने तो वह स्पष्ट सही ज्ञान ही तो हुआ। झूठ को सच जाने तो वह भ्रम वाली बात हुई। पर झूठ को झूठ जान लेना मिथ्याज्ञान वाली बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनकी दृष्टि से परमाणु को देखो-एक-एक प्रत्येक परमाणु अपने गुणपर्याय का पिण्डरूप है।

स्वरूपचतुष्टय से परमाणु का एकत्व–द्रव्यदृष्टि गुणपर्ययवद्द्रव्यं को बतलाती है। परमाणु का स्वरूप उसका गुणपर्यायरूप पिण्ड है, उसका भी स्वतंत्र स्वरूप है। किसी अन्य पदार्थ से परमाणु का स्वरूप मिल नहीं जाता है, क्षेत्रदृष्टि से परमाणु एकप्रदेशी है। परमार्थ से पुद्गल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है। स्कंध की अपेक्षा पुद्गल को अस्तिकाय बताया है। काल की दृष्टि से जिस पर्यायरूप परिणम रहा है उस-उस पर्यायमय है और भावों की दृष्टि से परमाणु में जो स्वभाव है, शाश्वत गुण है, उनकी दृष्टि से उन ही मय है। ऐसा परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है और यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप हूँ।

अज्ञानी व ज्ञानियों का निज व पर–'निज को निज पर को पर जान।' इसकी व्याख्या अज्ञानियों में भी है। अज्ञानी व्यामोही जीव अपने कुटुम्ब को मानते हैं कि ये निज हैं और अन्य सब जीवों को मानते हैं कि ये पर हैं और कहते भी हैं कि यह मेरे सगे चाचा हैं और यह हमारी रिश्तेदारी के चाचा हैं। अरे इस जीव का जीव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। केवल व्यामोह से ऐसा कहा जाता है। ऐसी परख हो तो वहाँ ज्ञान में बाधा नहीं है, किन्तु अज्ञानी की कल्पना में तो वास्तव में ऐसा ही है, यहाँ मेरा कुछ है ही, बस यही मिथ्याज्ञान हो जाता है। ज्ञानी जीव को अपने आप में भी उस चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीति होती है।

संकटों की नींव–जितने संसार में संकट हैं वे सब संकट अहंकार और ममकार की भींत पर टिके हुए हैं। ये दो भाव न हों तो संकट क्या रहा ? अहंकार-पर को मानना कि यह मैं हूँ और ममकार—पर में ऐसी बुद्धि करना कि ये मेरे हैं। बस ये दोनों ही भाव समस्त अनर्थों के मूल हैं। पर में अहंबुद्धि करना तो प्रकट मिथ्यात्व है और पर में ममबुद्धि करना भी मिथ्यात्व में हो सकता और चारित्र मोह में भी हो सकता किन्तु व्यवहार चलाने को इस जीव ने अपने को नानारूप अनुभव कर डाला, पर एक स्वच्छ ज्ञानमात्र मैं हूँ, किसी पर के साथ मेरा कोई सम्बंध नहीं है ऐसी बुद्धि इस जीव ने अब तक नहीं बनायी और इसी का फल है कि यह संसार में अब तक रूलता चला आया है। यह बहिरात्मा की कहानी चल रही है। बाहरी

पदार्थों में यह मैं हूँ—ऐसी अपनी आत्मीयता स्वीकार करे उसे बहिरात्मा कहते हैं। बहिरात्मा कहो, पर्यायबुद्धि कहो, मूढ़ मोही, पर्याय मुग्ध ये सब एकार्थवाचक हैं।

अनित्यभावना को मूल्य देने वाला परिचय–भैया ! अनित्य भावना में कोई जीव ऐसा ही ऐसा जानता रहे कि सब मरने वाले हैं, 'राजा, राणा, छत्रपति, हाथिन के असवार। मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।।' सब मरेंगे, ये मरेंगे, वे मरेंगे, मरना ही मरना दिखता रहे तो उसने अनित्यभावना का मर्म नहीं पाया। ज्ञानी को तो यों समझ में रहते है कि इस जीव में जो सहज स्वरूप है, चैतन्यभाव है वह तो नित्य है और इसकी जो बाह्य परिस्थिति है वह अनित्य है। मरण होता है पर्याय से आत्मा के अलग हो जाने से। जन्म होता है आत्मा का किसी पर्याय से सम्बन्ध हो जाने से। आत्मा मरता नहीं है किन्तु जिस पर्याय में यह आत्मा बँधता है वह पर्याय मरता है। जीव मरता तो कभी है ही नहीं देह से इसका वियोग होता है व देह विघटता है। सो देह परमाणुवों का पिण्ड है। वह परमाणु भी कभी अपनी सत्ता को नष्ट नहीं कर सकता। तब फिर मरना दुनिया में कुछ भी बात नहीं है। हो गया वियोग पर द्रव्य सब ज्यों के त्यों हैं।

जीवत्व के अपरिचय में मरणभय–भैया ! मरना तो उनके लिए ही सही लगता है जो वर्तमान में पाये हुए समागम में अतिशय करके ममता बुद्धि रखते हैं। मरण तो उनका है। जैसे किसी से कह दिया कि यहाँ क्यों बैठे, यहाँ बैठ जावो, तो उठकर बैठ गया। इसमें किसका बिगाड़ है ? ऐसे ही यह जीव इस पर्याय में क्यों बहुत दिन तक रहता है? यहाँ से चले, नवीन पर्याय में पहुँचे तो उसका क्या बिगाड़ है ? अज्ञानी को मरण का भय है, मरण का क्लेश है। जिसने बाह्य में अपना सम्बन्ध मान रखा है मरण तो उन्हीं के लिए है। आत्मा को आत्मारूप से पहिचानने पर मरण नाम में कुछ बिगाड़ नहीं हैं। सो मरण भी देखे, मरण भी बोले, पर साथ ही यह भी समझना चाहिए कि जीव में जो सहजस्वभाव है उसका कभी विनाश नहीं होता। यह अज्ञानी जीव तो नष्ट होने वाला अपने देह को मानता है कि यह मैं हूँ और पर के देह को मानता हे कि यह पर जीव है। इसे जीवत्व की दृष्टि अभी तक नहीं जगी है, इस कारण यह जीव बहिरात्मा है।

बहिरात्मा जीव अपने शरीर को अपना आत्मा समझता है और पराये शरीर को पर आत्मा समझता है। इस तरह अपने आपके अस्तित्व में भी भ्रम किए है और अंतस्तत्व में भ्रम किए है। सो ऐसे निज और पर में मिथ्यारूप में मानने के कारण क्या परिणति बनती है ? इस विषय को अब इस श्लोक में कह रहे हैं।

श्लोक 11

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
जायते विभ्रम: पुंसां पुत्रभार्यादिगोचर:।।११।।

अज्ञानी के स्वपरनिर्णय में भूल–जिसने अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना है ऐसे पुरूष ने देह में ही सो यह मैं हू, ऐसा माना और देह में ही यह पर है, ऐसा माना। यह मोही जीव किसी को तो यह पर है ऐसा भी मानता है तो भी वहाँ भूल है। पर को यथार्थरूप से पर भी नहीं समझ पाता है। देह को ही तो निज आत्मा मानता है और देह को ही पर आत्मा मानता है। सो भूल होने के कारण इस जीव के पुत्र भार्या आदि सम्बन्धियों में भी भ्रम हो जाता है। देहों में स्व और पर का आशय जब होता है तो फिर रिश्तेदारी की कल्पना होने लगती है कि यह मेरा पुत्र है, अमुक मेरी स्त्री है आदिक सम्बंधी इसके भ्रम चलने लगता है और जहाँ पर के सम्बंध का भ्रम चला कि वहाँ विडम्बनाएँ बढ़ती चली जाती है।

बोले सो विवूचे–भैया ! जो परपदार्थ में कुछ भी अनुराग करता वह जीव व्यवहार में फँस जाता है। कहां तो स्वतंत्र ज्ञानघन आनन्दमय यह आत्मतत्त्व है जो कि कृतार्थ है, कुछ करने को इसे है ही नहीं। यह ज्ञान और आनन्द करि सम्पन्न है। इसका स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द का है, लेकिन अपने ही स्वरूप का परिचय न होने से यह बाह्यवस्तुओं में उन्मुख होता है, उनमें राग करता है और इसी कारण इसका फँसाव बढ़ता जाता है अन्यथा बतावो लड़के हुए वहाँ तक तो मान लिया कि फँसाव की बात है। अब लड़कों के लड़के हुए तो जैसे बाप बनकर लड़कों के लिए पागल रहे वैसे ही लड़कों के लड़के हुए तो उनके पीछे भी पागल रहेगा। नाती पोते हो गए तो और भी फँसाव बढ़ गया। तो परपदार्थों में अनुराग करने से फँसाव बढ़ता ही जाता है, इसे कहते हैं बोले सो विवूचे।

बोले की विवूचन पर एक दृष्टांत–एक राजा साधु के पास जंगल में पहुंचा। वह प्रणाम, दण्डवत, अर्चन करके बैठ गया। थोड़ी देर बाद साधु की समाधि टूटी। जब राजा को अपने सामने बैठा हुआ देखा तो साधु महाराज ने यह कह दिया कि बोलो राजन् क्या चाहते हो ? राजा के कोई पुत्र न था। सो राजा बोला–एक पुत्र मेरे हो जाय। साधु ने कहा अच्छा जावो एक पुत्र हो जायेगा। अब राजा चला आया। माह भर बाद साधु ने देखा कि इस समय कोई जीव मर रहा हो तो रानी के गर्भ में भेजूँ। पर देखा कि कोई नहीं मर रहा है। तो साधु ने सोचा कि मेरी बात कहीं झूठ न हो जाय इसलिए खुद मरो और रानी के पेट में चलो। तो साधु खुद मरा और रानी के गर्भ में आया। अब गर्भ के दुःख, मुँह न खोल सके, देख न सके, बोल न सके, सो गर्भ के कष्टों से पीड़ित होकर पेट के अन्दर ही सोचता है कि जन्म ले लूंगा पर कभी बोलूँगा नहीं। साधु होकर भी मैंने बोल दिया था कि तेरा अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा तो इतने दुःख उठाने के लिए रानी के पेट में आना पड़ा। तो अब मैं कभी न बोलूंगा। बोलने से विडम्बना बढ़ जाती है।

बोले की विवूचन पर एक उपदृष्टांत–साधु पैदा तो हो गया वहाँ पर बोले नहीं। गूंगा बन गया। अब राजा को बड़ा दुःख कि पुत्र किसी तरह से हुआ भी तो गूंगा हुआ। अब वह ८–१० वर्ष का हो गया तब तक भी न बोले, तो राजा ने घोषणा करा दी कि मेरे पुत्र को जो बोलना बतायेगा उसे बहुत ईनाम दूंगा। एक बार राजपुत्र बगीचे में घूम रहा था और उसमें एक चिड़ीमार जाल बिछाए चिड़िया पकड़ने छुपा हुआ बैठा था।

जब चिड़िया न मिली तो अपनी जाल लपेटकर चलने लगा। इतने में ही एक चिड़िया एक डाली पर बोल गयी। चिड़ीमार ने लौटकर जाल बिछाकर उसे पकड़ लिया। यह बात देखकर राजपुत्र से न रहा गया और वही बोल पड़ा, जो बोले सो फँसे। उसका मतलब था कि यह चिड़िया न बोलती तो वह तो जाल लपेटकर जा ही रहा था, बोली सो फंसी। अब राजपुत्र के इतने शब्द सुनकर चिड़ीमार के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने सोचा—राजपुत्र बोलता है, ऐसा राजा को सुना दे तो बहुत सा इनाम मिलेगा। चिड़ीमार सीधा राजा के पास पहुंचा और बोला कि महाराज आपका पुत्र बोलता है। इतनी बात सुनकर राजा ने ५ गांव नाम लगा दिये। अब राजपुत्र महल में आया तो राजा कहता है कि बोलो बेटा। वह न बोला। अब तो राजा को चिड़ीमार पर बड़ा क्रोध आया कि चिड़ीमार भी हमसे दिल्लगी करते हैं। अच्छा मैं इसे फांसी दूंगा।

बालेकी विवूचन पर अन्तिम उपदृष्टांत—राजा ने उस चिड़ीमार को फांसी के तख्त पर चढ़वा दिया और राजा बोला कि तू जो चाहता हो खा पी ले, जिससे मिलना चाहता हो मिल ले। चिड़ीमार बोला-महाराज मुझे कुछ न चाहिए, सिर्फ दो चार मिनट को आप अपने पुत्र से मिला दो। मिला दिया। अब राजपुत्र से चिड़ीमार कहता है कि ऐ राजकुमार ! मुझे मरने का जरा रंज नहीं है। रंज इस बात का है कि दुनिया जानेगी कि चिड़ामार ने झूठ बोला, इसलिए फांसी दी गयी। इसलिए हे राजकुमार ! आप अधिक न बोलो तो उतने ही शब्द बोल दो जो शब्द बगीचे में बोले थे। वह राजपुत्र अब उतने ही शब्द क्या बोले, उसने तो भाषण दे डाला। पहिले मैं साधु था, वहाँ राजा से बोल गया, सो रानी के पेट में फंस गया। इसीलिए मैंने ८, १० वर्ष की अवस्था तक नहीं बोला था, अब देखो चिड़िया डाली पर बोल पड़ी इसीलिए चिड़ीमार के जाल में फंस गयी। और देखो ये चिड़ीमार साहब भी राजा से बोल उठे सो वह भी फंस गये।

व्यर्थ के श्रम से विराम लेकर एक अपूर्व कार्य का प्रयोग परीक्षण—यह संसार बिल्कुल अजायबघर है। किसी बात पर हमारा आपका अधिकार ही नहीं है। बिल्कुल व्यर्थ के ख्याल कर करके खुश होते रहते है। यह मेरा है, मेरा यह ठाठ है। तो इस भ्रम से ही तो सारी विडम्बनाएँ हैं। इन सारी विडम्बनावों का मूल है इस देह को आत्मा मानना। सब विडम्बनावों की जड़ जो मूल भ्रम है वह मिट जाय तो सब विपदा दूर हो जायेगी। सुख पाने के लिए कोशिश बहुत करते हैं मनुष्यजन, बड़ा श्रम करते हैं, उसका सौवां हिस्सा भी ज्ञानभावना के लिए, वस्तुस्वरूप सीखने के लिए, विज्ञान ज्ञान बढ़ाने के लिए श्रम किया जाय तो इसको मार्ग मिलेगा, सुख मिलेगा। जैसे जब व्यापार करते हुए कई वर्षों से टोटा ही टोटा चलता है तो वह व्यापार भी बदल दिया जाता है और दूसरा व्यापार किया जाता है इस चाह से कि हमें लाभ मिले, तो ऐसे ही जहाँ पचासों काम किए जा रहे हों वहाँ जरा एक काम यह भी करके देख लो कि सबसे न्यारा देह से भी जुदा मात्र ज्ञायकस्वरूप मैं हूँ, ऐसी भावना करने का काम भी देख लो क्या फल होगा ?

भ्रमत्रय की विडम्बना—इस बराक प्राणी को मूल भ्रम है अपने देह में यह मैं हूँ ऐसा विश्वास बनाने का। दूसरा भ्रम यह हुआ कि दिखने वाले जो ये शरीर हैं ये पर हैं यह भ्रम किया। तीसरा भ्रम यह आया कि उन पर-जीवों को अपने जीव के साथ जोड़ा। यहाँ तक अब उद्दण्डता के तीन कार्यक्रम बताए गए हैं। यह जीव मोहवश अपने देह को यह मैं हूँ सो मानता और पर के देह को यह पर-आत्मा है ऐसा मानता है तथा उस पर का अपने साथ रिश्ता जोड़ना है। इस तरह इन तीन भ्रमों की बातों में फँसाने के कारण यह जीव अनेक विडम्बनाएं भोग रहा है।

अन्तर्भावना की मूल आवश्यकता—भैया ! सुख के अर्थ भगवान की भक्ति भी करते हैं, स्तवन पूजन भी करते और बोलते जाते हैं, पर रटा हुआ है सो बोल जाते हैं, पर वहाँ दृष्टि अन्तर में नहीं बन पाती है। 'आतम के अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।।' यह खूब रटा हुआ है, फर्क नहीं आ सकता है। जैसे हम बोलते हैं, आप बोलते हैं, सब बोलते हैं, पर बोलते समय में भी अपनी गलती पर अफसोस हो, और यह गलती अब न बने ऐसी अन्तर में भावना हो तो हमारा आपका स्तवन सार्थक है, अन्यथा तो सब एक ही बात है। मानों विषय-कषाय भोगने की विधि हो कि भगवान् की पूजा कर आएं और फिर विषयों को, परिग्रहों को आरम्भों को खूब किया करें, ऐसा कुछ रूटीन सा बन गया है। किसी क्षण इस विविक्तता पर दृष्टि तो जानी चाहिए। यह मैं समस्त परपदार्थों से भिन्न केवल स्वरूपमात्र हूँ।

पर-परिणति से निज में विपरिणमन का अभाव—भैया ! दुनिया के लोग कैसा ही कुछ परिणमन करें, ढोल बजाकर निन्दाएं किया करें। जरा स्वरूप को तो देखो—मेरे प्रति हज़ारों लाखों जीवों का भी एक साथ बिगाड़ करने के भाव से यत्न हो, परिणति हो, किसी भी पर की परिणति से मेरा अपने आपमें कोई फर्क नहीं आता है। कोई किसी को रूलाता नहीं है। मुग्ध प्राणी स्वयं अपनी पीड़ा से रोया करते हैं, और वह पीड़ा भी है केवल कल्पना से उत्पन्न हुई। कोई सगा हितू हो और वह भी रोने लगे रिश्तेदार के दुःख में तो रिश्तेदार और तेज रोने लगता है। इतना होने पर भी दूसरा उसे रूलाता नहीं है किन्तु आश्रयभूत बनकर अपनी कल्पना से अपने आपमें रूदन किया करता है। सुख और दुःख देने वाला इस लोक में कोई दूसरा नहीं है। मात्र मोह रागद्वेष से यह जीव अपने आप दुःखी होता है। पर तो आश्रय है जिसे बना लेवे।

आन्तरिक इच्छा के विलास के बहाने—गुरु जी सुनाते थे कि एक ललंजू भाई थे। उन्हें व्याख्यान या शास्त्र बोलना नहीं आता था। ऐसी भी स्थिति होती है कि ज्ञान तो अधिक जान जाय पर प्रयोग में, व्यवहार में बोलने में नहीं ला सकते। तो उसने क्या किया, मानो रामायण ली और जंगल में पहुंच गया। लोगों के बीच तो बोलने में झिझकता था, सो जंगल में ही पेड़ों को आदमी समझकर कि हमारे श्रोता तो ये हैं—तो पेड़ों को रामायण सुनाने लगा। अब जब सुनाते-सुनाते थक गया, रामायण बंद करने को चाहा तो देखा कि हवा रूकी है, पत्ते भी जरा नहीं सनक रहे है, सो उन वृक्षों से कहता है कि अब तुम चुप-चाप

हो गये हो, मालूम पड़ता है कि तुम्हारे सुनने की अब इच्छा नहीं है। और यदि हवा तेज चले और रामायण बंद करने को हो तो क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि तुम बड़ा मना करते हो, हाथ हिला-हिलाकर मना करते हो, अब तुम्हें सुनना नहीं है, मना कर लो, ऐसा कहकर भी तो पोथीपत्रा बंद करके जाया जा सकता है। ऐसी ही बात जीव को सुखी होने की बतायी है अथवा दुःखी होने को बतायी है। वह तो जैसा परिणमन करता हो, करेगा पर मिलेगा फल उसमें ही, कल्पना बनाकर सुखी हो लेगा अथवा दुःखी हो लेगा।

स्वकीय योग्यतानुसार परिणमन—सब परिणतियां अपनी योग्यताओं के मुख्य कारण से चला करती हैं। तिल में तेल होता है तो कोल्हू से पेलकर तेल निकाल लिया जाता है और बालू में तेल नहीं होता है सो कितना ही पेला जाय उसमें तेल नहीं निकलेगा। जिसके दुःख का उपादान है वह कहीं चला जायेगा। जहाँ जायेगा वहाँ कोई कल्पना बनाकर दुःखी हो लेगा। अपना दुःख बनाने के लिए बाहर में कोई भी समर्थ नहीं है। कदाचित् अपने मन के अनुकूल बाहर में परिणति हो जाय तो भी कहीं अन्य पदार्थों की परिणति से सुख नहीं हुआ है। वहाँ भी अपने ज्ञान की कला से सुख होता है। किसी भी अन्य वस्तु के साथ अपना कोई तात्विक सम्बंध नहीं है। फिर भी यह अज्ञानी, पर्यायव्यामोही जिसे वस्तुस्वरूप का परम अभ्यास नहीं है कभी कुछ कह बैठता, कभी कुछ कह बैठता, पागलों की नाई रहता है। ऐसा अज्ञानी जीव अपने शरीर को मानता है कि यह मैं हूँ और पराये शरीर को मानता है कि यह पर है न उसने असली मायने में पर को जाना, न असली मायने में मैं को जाना, इन सब व्यवस्थाओं से पृथक ज्ञानानन्दमात्र आत्मतत्त्व के दर्शन बिना यह जीव कहां-कहां डोल रहा है।

शरीर शरीरों की निमित्तनैमित्तिकता—ये सम्बंध भी शरीर के शरीर साथ हैं। हां इतनी बात अवश्य है कि जिस शरीर में आत्मा ठहर रहा है उस शरीर का अन्य आत्माधिष्ठित शरीर के साथ सम्बंध है। इस शरीर के साथ याने जिस उदर से यह शरीर उत्पन्न हुआ है उस ही उदर से जो शरीर उत्पन्न हुआ वही भाई है, वही बहिन है, इस शरीर को जो कोई दूसरा शरीर रमाये वही पति है और वही पत्नी है। इस शरीर के कारणभूत पिता के शरीर के सहोदर चाचा बुआ आदिक है। ऐसा ही सम्बंध जोड़ते जावो तो जितने भी नाते रिश्तेदार हैं सबके रिश्ते इस शरीर के सम्बंध के कारण मिलेंगे। इस आत्मा को जानता कौन है, कोई जान जाय आत्मा को तो फिर रिश्तेदारी कैसे बतायेगा ? जो जान जायेगा जैसा कि यह शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व है तो वह तो स्वयं सम्यग्ज्ञान के कारण इस ब्रह्मस्वरूप में घुल जायेगा। वह भेद ही नहीं मानेगा, फिर रिश्ता और सम्बंध कैसा ?

अन्तर्भावना की विजय—वज्रभानु जैसा व्यामोही पुरूष जिसकी स्त्री को उस स्त्री का भाई लिवाने आया तो स्त्री के साथ ही चल दिया अपनी ससुराल के लिए। अब तीन थे। खुद, उसकी स्त्री और साला। जंगल में निकले और वहाँ एक मुनिराज को आनन्दमग्न तपस्या करते हुए निरखा तो उसको देखते ही

वज्रभानु का मोह गल गया—अहो यह विविक्त आत्मा कैसा आनन्द विभोर है वह धर्म में लीन है और यह मोही मैं स्त्री के साथ-साथ जा रहा हूँ। इतने में उसके वैराग्य सवार हुआ, मोह टला, एकटकी लगाकर देखने लगा। साला दिल्लगी करता है कि क्या तुम मुनि बनना चाहते हो ? उसे उत्तर देने का मौका लग गया, मैं बनूंगा तो क्या तुम भी बनोगे ? वह जानता था कि यह मुनि नहीं बन सकते है सो कह दिया। हां लो वह वज्रभानु निर्ग्रन्थ साधु बन गया। यह घटना देखकर साले का भी ज्ञान वैराग्य जगा। वह भी साधु हो गया। दोनों की इस ज्ञानलीला को निरखकर स्त्री का भी वैराग्य बढ़ा और वह आर्यिका हो गयी। अब इन दोनों को पता नहीं कि कहां हैं, वज्रभानु के घरवालों को न उस स्त्री के घरवालों को। तो ये सब रिश्तेदारी देह के और मोह के हैं, आत्मा के नहीं हैं। मैं देह से न्यारा चैतन्यस्वरूप मात्र एक आत्मतत्त्व हूँ ऐसी भावना ज्ञानी जीव के होती है। अज्ञानी तो ममत्व बढ़ाकर हाय-हाय करके परसंचय में ही अपना समय खो देता है, इसी सम्बंध में अब और आगे कहा जायेगा।

भ्रम और विभ्रम—इस अज्ञानी जीव ने अपने देह को अपना आत्मा माना और पर के देह को पर-आत्मा माना। यों देहों में आत्मत्व का अभ्यास होने के कारण इसे फिर देह के सम्बन्धियों में अपना सम्बंध मानने का भ्रम हो गया। जो अपना शरीर रमाये उसे पति अथवा स्त्री माना जाने लगा। जो देह के उत्पन्न होने में निमित्त हुआ उसे माता-पिता माना जाने लगा। और अनेक सम्बंध इस देह में आत्मत्व के भ्रम से माने जाने लगे। इसी कारण पुत्र मित्र आदिक की रक्षा करते हैं, उनको प्रसन्न रखना चाहते हैं, कभी भी प्रतिकूल हो जाय तो उन पर विरोधभाव की दृष्टि रखते हैं, खेद मानते हैं। इसी प्रकार ये अनेक विडम्बनाएं करने वाले हो जाते है। ऐसा इसे देह में आत्मत्व का भ्रम हुआ और पुत्र भार्या आदिक में एक विभ्रम पैदा हो गया। अब यह बताते हैं कि ऐसे विभ्रम से फिर आगे क्या परिस्थिति बनती है?

श्लोक 12

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते।।१२।।

अज्ञान संस्कार—देह में आत्मत्व का भ्रम होने से और पुत्र स्त्री आदिक में आत्मीयता का भ्रम होने से अविद्या नामक संस्कार और दृढ़ हो जाता है। ज्यों-ज्यों शरीर में आत्मा मानने की वृत्ति जगती है त्यों त्यों यह अज्ञान का संस्कार और भी दृढ़ हो जाता है। देह ही मैं हूँ, इस प्रकार का उसका संकल्प बन जाता है। इस तरह फिर यह लोक, अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा मानता है। देह को आत्मा मानने के भ्रम से अज्ञान बढ़ाना और अज्ञान संस्कार के कारण फिर भी यह देह को आत्मा मान लेना, यही चक्कर

जीवों का चल रहा है। जिस देह में पहुंचा उसी में ही रम गया। उसे ही यह मैं सब कुछ हूँ ऐसा मानने लगा। इसी कारण इसे मौत से डर लगता है, रोग से भय रहता है और इस देह के साधनों के लिए, देह को रमाने वाली अन्य वस्तुवों के लिए चिंतातुर रहता है।

अज्ञान संस्कार का परिणाम—अब बहिरात्मा जीव की स्थितियाँ बतायी जा रही हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है रागद्वेष मोह को दूर करके अपने आत्मस्वभाव में स्थिर होना—ऐसी शिक्षा दी जा रही है। तो जब तक बहिरात्मापन की असारता नहीं मालूम होती तब तक यह हटे कैसे, इसीलिए बहिरात्मा का स्वरूप विवरण के साथ बताया जा रहा है। अविद्या कहो या अज्ञान कहो, एक ही अर्थ है। जहाँ अपने यथार्थ सहजस्वरूप का भान नहीं है और किसी अनात्मतत्त्व में आत्मतत्व की श्रद्धा है वहाँ यही अविद्या और अज्ञान का विस्तार चलता है। कैसा बहिर्मुख रहा यह कि इस जीव ने किसी क्षण भी इस आत्मा की ओर मुड़कर नहीं देखा, बाहर ही बाहर इसकी दृष्टि रही। इस तरह अज्ञान का ही संस्कार बढ़ता गया और इसके परिणाम में जन्म-मरण इसके बढ़ते चले गए।

देहबन्धन से छूटने का उपाय—इस देह के बन्धन से दूर होने का उपाय यही है कि अपने को देह से भिन्न माना जाय, भिन्न समझा जाय, इसके अतिरिक्त इसे और कुछ श्रम नहीं करना है। इस ही ज्ञान को दृढ़तर बनाना है। बंधन छूटा ही हुआ है। अथवा कुछ ही भवों में यह बिल्कुल छूट जायेगा। जितने भी क्लेश हैं इस जीव को वे सब देह में आत्मीयता के भ्रम से होते हैं। नहीं तो स्वरूप तो प्रभुवत् ज्ञानानन्द स्वभावमात्र है, कोई कष्ट ही नहीं है इस जीव को। ये बड़े आनन्द से है। कष्ट तो इसने स्वयं बना डाला है।

मोह की कुटेव—भैया ! जो आपके घर में बाल बच्चे जो कुछ जीव हैं ये ही जीव आपके घर में न होते किसी दूसरे के घर में होते तो उस दूसरे घर वाले उससे मोह करने लगते, आपको मोह न जगता। किसी जीव में मोहराग करने की कुछ रेखा खींची हुई नहीं है कि यह जीव मेरा ही तो है। जो आया सामने आड़ में उसी को ही अपना मानने लगे। वस्तुत: किसी भी जीव के साथ कोई सम्बंध नहीं है, मोहवश सम्बंध दृढ़ किया है, सम्बंध है कुछ नहीं। यह सम्बंध सदा रहे तब जानें। तो सदा तो बड़े बड़े पुरूष भी नहीं रह सके। राम, कृष्ण, पाण्डव, तीर्थंकर बड़े-बड़े महापुरूष कोई भी सदा नहीं रह सके। किन्हीं का परिवार किन्हीं की जोड़ी सदा बनी रहे ऐसा किसी के हुआ ही नहीं है।

मरण समय में पर की अभ्यर्थना सर्वथा व्यर्थ—मरते समय यह जीव इस शरीर से कितनी ही प्रार्थना करे कि ए शरीर ! तेरे पीछे मैंने न्याय अन्याय भी नहीं गिना, रात दिन बड़ी भक्ति से तेरी ही तेरी पूजा करता रहा, कैसा खिलाया पिलाया, भगवान् को भी थोड़ा सा द्रव्य दिखाकर पूजने का भाव बनाया पर हे शरीर ! तेरे को बड़े कीमती आहार खिला खिलाकर तेरी पूजा की, अब तू मेरे साथ चल हम मरकर जा रहे हैं, तेरी इतनी तो सेवा की, अब तो तू साथ निभा। तो शरीर का यह उत्तर मिलता है कि आत्मन् ! तुम मूढ़ हो रहे हो, यह मैं देह तो किसी के संग नहीं गया। बड़े-बड़े महापुरूषों के संग नहीं गया तो तुम्हारे संग जाऊँगा ही क्या ? जिस देह के खातिर अहंकार पोषकर बड़े-बड़े अन्याय, शुभ अशुभ विडम्बनाएं कर डाली हैं वह देह भी इस जीव का कुछ नहीं है। ये साथ नहीं निभाता।

तृष्णावश जीवन का दुरूपयोग—कहां तो आनन्दमय ज्ञानघन पवित्र आत्मतत्त्व और कहां चाम, खून, हड्डी, मांस, नाक, थूक के पिण्ड का यह शरीर। कुछ भी तो मेल नहीं बैठता है इस आत्मा में और शरीर में। किन्तु लो मोही जीव इसे ऐसा फिट बैठाल रहा है कि कुछ भेद ही नहीं समझता। यह मनुष्य देह तो फिर भी बड़े विवेक और सावधानी बनाने में सहायक हो सकता है। इस जीव ने तो ऐसे-ऐसे बहुत शरीर पाये कीड़ा, मकोड़ा, जलचर, मच्छर, मगर अनेक प्रकार के देह पाये जिन देहों में न कुछ हित साधन बना सकता और न कुछ आनन्द ही पा सकता है। अनेक योनियों में घूमते-घूमते यह मनुष्य देह बड़ी दुर्लभता से मिला है। क्या बताया जाय, जिसके पास जो चीज है उसकी वह कदर नहीं करता। जैसे किसी के पास लाख डेढ़ लाख का वैभव है तो उस वैभव की कदर नहीं करता क्योंकि तृष्णा लग गयी कि यह तो कुछ भी नहीं है। जब दस-पाँच लाख हो तब भला हो। मिली हुई चीज को मानो यों ही सुगम समझता है। ऐसे ही मनुष्यभव मिल गया तो इसे यों ही सुगम समझते है कि यह तो यों ही मिल गया है। कितना दुर्लभ है मनुष्य-जन्म ? इस ओर दृष्टि नहीं देता है।

मनुष्यभव की दुर्लभता—हलका जुवा जिसमें बैल जोते जाते हैं उस जुवे में चार छेद होते हैं, बैल की गर्दन के आसपास डंडा लगाने के दो दो छेद होते हैं और उनमें जो डंडा लगाया जाता है साफ सुथरा बढ़ई का बना हुआ उसको कहते हैं सैल। तो वह जुवा बिना सैल का समुद्र के एक किनारे पर डाला जाय और सैल समुद्र के दूसरे किनारे पर डाल दिये जायें और वह जुवा और सैल बहते-बहते किसी एक जगह आ जाएं और जुवा के छेद में सैल आ जाय तो आप सोच सकते हैं कि यह कितनी कठिन बात है ? जैसे यह कठिन बात है इसी तरह मनुष्यभव को प्राप्त कर लेना भी अत्यन्त कठिन बात है। मिल गया है अपने को सो सुगम लगता है। इसे कषायों में, भोगों में, ममता में, अहंकार में ही गंवा देते है, पर ऐसे

दुर्लभ मनुष्य देह का सदुपयोग करना यह बड़े विवेक का काम है।

साधारण विवेक—भैया ! ऐसा ज्ञान जिस गृहस्थ के या साधु के होता है वह संत पुरूष है कि मेरा आत्मा मेरे उपयोग के अधीन है। जब चाहे तब दर्शन करलें। जैसे घर की कोई चीज, घर के कोई लोग बड़े सस्ते और सुगम हैं ऐसे ही इस ज्ञानी संत को अपने आत्मा का मिलन बिल्कुल सुगम है और सस्ता है। कितनी ही बार जब चाहे इस आकाशवत् निर्लेप ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व का परिचय कर सकता है। यह मनुष्यभव यों ही मनमाने विचारों में, भोगों में खो देने के लिए नहीं है। स्वामी कार्तिकेय महाराज ने कहा है कि विधि ने इस मनुष्य देह को अपवित्र, घृणित इसलिए बनाया है कि यह जीव इस देह से जल्दी विरक्त हो जाय, पर विरक्त होना तो दूर रहा, इस मोही जीव को इस देह का घिनापना भी प्रतीत नहीं होता। शकल सूरत रूप निहारकर यह सार है, हितरूप है, सुखदायी है इस तरह की कल्पनाओं से उनकी ओर आसक्त रहते हैं।

असार देह के लाभ का प्रयोजन वैराग्य—देख लो मनुष्य देह में कहीं कुछ भी सार बात नहीं नजर आती है।ऊपर पसीना है, रोम है, चमड़ा है, और जरा नीचे चलो—खून है, मांस है, मज्जा है, हड्डी है और भीतर भी धातु उपधातुयें हैं, तो जैसे कहते हैं कि केले के पेड़ में सारभूत चीज कुछ नहीं है, पत्ते को छीलते जावो पूरी तरह से तब वहाँ पेड़ कुछ न मिलेगा वे ही पत्ते जो ऊपर निकले हैं वे नीचे तक सम्बंध रखे रहते है। केला में कोई सार नहीं मिलता, फिर भी इस मनुष्यदेह से स्थावर की देह अच्छी है, वनस्पतियों के देह अच्छे हैं। ये काठ, चाँदी, सोना आदि तो कुछ काम आते हैं, पवित्र हैं, ठोस हैं पर मनुष्यदेह में क्या तत्त्व रक्खा है, गंदगी गंदगी से भरा हुआ है, सो मानो ऐसा यह गंदा देह विरक्त होने के लिए मिला है। पर यह मनुष्य मोह में आकर विरक्त होने की बात तो दूर जाने दो कलावों सहित साहित्यिक ढंग से, वचनों की लीला से बड़े एक अनोखे ढंग से प्रेम और मोह बढ़ाता है।

पशुराग से बढ़ा चढ़ा मनुष्यराग—पशु पक्षी भी राग करते हैं, अपने बच्चों से अपनी गोष्ठी के पशुवों से करते, वे सीधा ही राग करते है, उनमें और कला कुछ नहीं है। बस खड़े हो गए, पीठ पर गर्दन धर दी, यों ही सीधा लट्ठमार उनका राग होता है। पर मनुष्य का राग देखो कैसा कलापूर्वक है, कैसा वचनालाप है, कैसा ढंग है ? इसका फल यह है कि यह मनुष्य ब्रह्मविद्या से दूर हो जाता है। ब्रह्म नाम है आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का। सहज अपने आपके सत्त्व के कारण जो आत्मा का स्वरूप है उसके परिचय से दूर हो रहा है। फल उसका यह है कि संसार में जन्म और मरण करता है।

ब्रह्मविद्या का अधिकारी—इस ब्रह्मविद्या की योग्यता भी उन पुरूषों में होती है जो दयालु होते है, न्यायशील होते है, धन वैभव को ही सर्वस्व नहीं समझते हैं, ऐसे ज्ञानीसंत पुरूषों को ही उस ब्रह्मविद्या जानने का अधिकार है। अज्ञानी व्यामोही क्या समझें उस ब्रह्मविद्या को। यह जीव तो इन भोगों को ही सर्वस्व जानता है। विषय भोग लिया, कषाय करली, जरा लड़ लिया, अपनी देह में अपनी सत्ता मानकर शान बगरा ली, पोजीशन रखली, नाम जाहिर हो गया तो समझ लेते हैं कि मैंने करने योग्य सब काम कर डाला। पर कहां किया ? अभी तो पूरी ही उलझन है। अभिमान किस बात पर करते हो ?

व्यर्थ का अहंकार—जैसे कोई सांड गांव के किनारे लगे हुए गोबर को, घूरे को सींग से उछालकर कुछ पीठ में और कुछ अगल-बगल फेंकता है, अपनी टाँगें पसारकर, पूँछ उठाकर कमर लम्बी करके, ऊँचा मस्तक करके घमंड बगराता है कि मैंने बड़ा काम किया। किया क्या ? गोबर उछाला। यों ही यह व्यामोही जीव परपदार्थों का संचय करके बाहरी व्यवस्था बनाकर, संग की चतुराई बताकर परिवार का बड़ा भरणपोषण करके, मित्रों का लोगों का कुछ उपकार करके, सेवा करके गर्व से यों देखता है कि ओह मैंने बड़ा काम किया। करने योग्य कार्य सब कर डाला। पर किया क्या ? केवल कल्पनावों का कीचड़ उछाला। करने योग्य कार्य जो अन्त: पुरूषार्थ है, ज्ञान स्वरस का ज्ञान द्वारा पानकर लेना, यह अभी कहां किया है ? करना कुछ और था करने लगे कुछ और।

स्वदया के मुख्य कर्तव्य से लापरवाही—भैया ! अपने आपकी दया करके करनी करना हो तो अपने जीवन का बहुत कुछ समय सत्संग और ज्ञान उपासना में व्यतीत करना चाहिए। बाहरी बातों से क्या पूरा पड़ेगा ? हां लाखों की सम्पदा हो गयी। अब क्या होगा और धन जुड़ेगा। करोड़पति हो गए। अब क्या होगा ? जो हो रहा है आंखों देखते या अखबारों में पढ़ते हो। चैन नहीं पड़ती। कितनी ही कहां-कहां की चिंताएं बढ़ गयीं। और हो गए करोड़पति तो क्या होगा ? क्या कभी बूढ़े न होंगे ? फिर क्या होगा ? तो बूढ़े में जब और शिथिलता बढ़ती है तो वहाँ धन वैभव क्या मदद कर देगा ? क्या मरण न होगा ? फिर धन वैभव क्या करेगा ? ये सब बाहरी संग असार हैं। अज्ञानी जीव स्वदया के मुख्यकर्तव्यभूत और ज्ञानोपासना से दूर रहता है। इस लापरवाही से यह दु:खी रहता है।

सहजस्वभाव परिचय के यत्न की प्रेरणा—मोही मोहियों का यहाँ मेला लगा हुआ है इसलिए असारता चित्त में नहीं बैठती। परिग्रह संचय में रहकर दु:खी होते रहते हैं, फिर भी अपने आपको यह विश्वास नहीं होता कि यह दु:ख का सब साम्राज्य है। सुख चाहते हो तो जो कुछ व्यवहार में आता है वह तो ठीक है, उससे गुजरना चाहिए, निपटना चाहिए, उसमें रहना पड़ता है, उदयाधीन बात है किन्तु बाहरी लगाव है तो भी यत्न इस सहजस्वभाव के परिज्ञान के होने चाहिए। ज्ञाता दृष्टा रहो, जाननहार मात्र रहो। जैसे गैर पुरूषों को कोई स्थिति बन जाय तो उससे क्षोभ नहीं मानते ऐसी ही मित्र और कुटुम्बीजनों की

कुछ स्थिति बन जाय तो भी ज्ञानी के अंतरंग में क्षोभ नहीं आता।

आत्मज्ञान जागृति में सन्तोष—साधुजनों को तो जो उत्कृष्ट योगी हैं उन्हें तो जैसे दूसरों की देह की परिणति कुछ हो उससे क्षोभ नहीं आया करता, यों ही अपने देह की भी कुछ परिणति हो तो उससे भी क्षोभ नहीं आता। गजकुमार मुनिराज के सिर पर गजकुमार के श्वसुर ने मिट्टी की बाढ़ बाँधकर कोयला जलाया और धौंका किन्तु गजकुमार उसके ऐसे ही ज्ञाता दृष्टा रहे जैसे बाहर में कोई अँगीठी जल रही हो। यह भी जलती है। मैं तो देह से न्यारा मात्र जाननस्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव होता है तब जब देह और आत्मा में दृढ़तर भेदविज्ञान हो। अपनी शक्ति के माफिक यहाँ भी तो घर में रहते हुए यथासमय भेदविज्ञान जगा हुआ रहना चाहिए, नहीं तो शांति कहां ठहरेगी ? ज्ञान अपना सही रहेगा तो शांति संतोष रहेगा और ज्ञान ही दूषित हो गया तो शांति संतोष फिर किस द्वार से आयेंगे ? यह देह में आत्मत्व का जो भ्रम लगा है इस भ्रम के कारण अज्ञान नामक संस्कार इसका दृढ़ हुआ है और संसार के कारण आगे भी परभव में देह को आत्मा मानेगा और यह ही दु:खों की परम्परा इसकी चलती रहेगी।

श्लोक 13

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं।।१३।।

देह पाने व विदेह होने का उपाय—इस श्लोक में देह मिलते रहने की और देह न मिलने की औषधि बतायी गयी है। किसी को यदि ऐसी आकांक्षा है कि हमको शरीर मिलता ही रहे तो उनके लिए भी इसमें औषधि बतायी है और कोई यह चाहे कि देह तो संकट का स्थान है, इस देह से तो छुटकारा होना ही भला है, जिन्हें देह न चाहिए उनके लिए भी औषधि बतायी गयी है। जिन्हें शरीर की आकांक्षा है कि मुझे शरीर मिलते रहें, उन्हें चाहिए कि मिले हुए शरीर में यह मैं आत्मा हूँ ऐसी बुद्धि बनायें। इस प्रयोग से उनको शरीर बराबर मिलते रहेंगे। जो जीव देह में आत्मबुद्धि करते हैं वे निश्चय से शरीर से अपने आत्मा को जोड़े ही रहते हैं। एक शरीर मिटा दूसरा शरीर मिला, और ये शरीर मिलते रहें, इनकी परम्परा न टूटे, ऐसी बात बनाने का उपाय है शरीर में आत्मा का विश्वास बनाए रहना, यही मैं हूँ। जिन्हें इस शरीर का वियोग अभीष्ट नहीं है वे देह में आत्मा की बुद्धि न करें और अपने आत्मा में ही आत्मा की बुद्धि बनाएं तो यह देह छूट जायेगा।

देह पाने के उपाय की पद्धति पर एक दृष्टांत—जैसे किसी मित्र को अपने पीछे लगाए रहने का उपाय यह है कि मित्र को अपनाते रहें और उससे छूटने का उपाय यह है कि उससे मनमुटाव करलें। बूढ़े पुराने लोग पहिले तो नाती पोतों को पुचकारते हैं, अपनाते हैं, अपनी मूँछ फड़वाते हैं, खेल कराते हैं, सो

वे पोते अंग लग जाते हैं। पीछे फिर वे आफत समझने लगते हैं। बड़ी आफत है। अरे आफत तो इन बूढ़ों न जानबूझ कर लगायी, उन्हें अपनाया तो वे चिपटने लगे, और पहिले से न अपनाएं तो बूढ़ों का तो चेहरा वैसे ही भंयकर है, हड्डी निकली, दाँत निकले, मुँह फैला दें तो डर लगें, तो उनसे बच्चे क्या चिपटेंगे ? यह ही उनको अज्ञान कर बोझ लादता है। ऐसी ही बूढ़ों की बात, ऐसी ही जवानों की तथा मित्र की बात है। जितना राग दिखावोगे उतना ही वे लोग चिपटेंगे। वे स्वयं ही राग करके कल्पनाएं बनाकर पर से चिपटे रहते है।

कल्पना की जकड़—एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है कि एक व्यक्ति राजा जनक को ज्ञानी मानकर एक प्रश्न करने आया—महाराज ! मैं बहुत दु:खी हूँ। मुझे गृहस्थी ने, स्त्री ने, पुत्रों ने, वैभव ने जकड़ रक्खा है, गृहस्थी है, मैं बहुत जकड़ा हूँ, छूट नहीं सकता। कोई उपाय बताइए कि मैं इस झंझट से छूट जाऊँ ? तो राजा जनक तो चुप रहे और सामने नीम का पेड़ खड़ा था सो उसको अपनी जेट में भर लिया मायने पेड़ गोद में करके दोनों हाथों से जकड़ लिया, यह पेड़ मुझे छोड़े तो मैं तुम्हें उत्तर दूं। तो जिज्ञासु गृहस्थ कहता है कि महाराज हम तो तुम्हें ज्ञानी समझकर आये थे और तुम तो यहाँ बिल्कुल बेवकूफी की बात कर रहे हो। कहते हो कि मुझे पेड़ ने जकड़ लिया, अरे पेड़ तो बेचारा खड़ा है अपने स्थान पर, हिलता डोलता भी नहीं, तुमने ही उसे पकड़ लिया और कहते हो कि मुझे पेड़ ने पकड़ लिया। तो राजा कहता है कि अरे मूर्ख यही तो तेरी दशा है। तू सोचता है कि मुझे परिवार ने जकड़ लिया है। तू ही कल्पना करके उनसे ममता करता है और कहता है कि मुझे परिवार ने जकड़ लिया है।

अपनी योग्यतानुसार अपनी वृत्ति—अंतिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी थे। उनका विवाह हुआ। रात्रि में कभी सेठानियां जम्बूकुमार के पास खड़ी होकर कथाएँ सुनाने लगीं। और ऐसी कथाएं कहें जिनसे इन्हें यह शिक्षा मिले कि वर्तमान सुख को छोड़कर क्यों भावी सुख की आशा में तुम घर छोड़कर कष्ट सहना चाहते हो ? कितना ही राग लपेटें पर जिसे ज्ञान हुआ है उसके ऊपर वे लागलपेट की बातें कुछ असर नहीं डालती हैं।

केवल कल्पना का बोझ—यहां तो कोई एक अकेला पुरूष है, उसके न लड़का है, न लड़की है, न कुछ भार है तब भी वह दूसरे को अपनाकर अपने ऊपर बोझा लाद लेता है। सबका भाग्य जुदा-जुदा है। मगर दूसरों के प्रति तो यह ख्याल है कि इनको हम ही पालते हैं, कहां इनका ऐसा पुरूषार्थ है या भाग्य है ? हमारा ही सारा कर्तव्य है, हम ही करते हैं। कोई किसी का कुछ नहीं करता। केवल अपने विचार और कल्पनाएं यह बनाता चला जाता है। विचारने के सिवाय कोई कुछ नहीं कर सकता। अन्तर में जीव क्या है, कितना है उसका स्वरूप देखकर उसका निर्णय कर लीजिए।

देह की फसल का बीज देहात्मबुद्धि—जैसे कोई बड़ा अधिकारी कुर्सी पर बैठे ही बैठे सारी व्यवस्थाएं बना देता है ऐसे ही यह आत्मा राजा अपने प्रदेशों में पड़ा ही पड़ा केवल अपने विचारों को बना

बनाकर ये सारी व्यवस्थाएं बनाता रहता है। नारकी हुआ, तिर्यंच हुआ, मनुष्य हुआ, देव हुआ। करता कुछ नहीं है परद्रव्य में। यह तो केवल विचार बनाता है और बन जाता है सारा जगजाल। देह ही देह मिलें इस जीव को इसका उपाय क्या है ? शरीर को आत्मा मान ले कि यह ही मैं हूँ तो शरीर मिलते रहेंगे। क्या किया, खूब बोया अनाज तो अनाज पैदा होगा। तो शरीर मिलता रहे इस खेती का बीज यह है कि अन्तर ही अन्तर में धीरे से मान लेवो कि यह देह ही मैं हूँ, बस यह जो कल्पना है यह सर्वशरीरों की खेती का बीज है।

विचित्र फंसाव—भैया ! देह व आत्मा में कितना अनमेल सम्बंध किया गया है ? कहां तो देह अचेतन और यह आत्मा चैतन्यस्वरूप। फंसाव की बात देखो, कैसा विचित्र फंसाव है ? जैसे बैलगाड़ी में जुवा में एक ओर ऊँट जोत दिया जाय और एक ओर गधा जोत दिया जाय तो कितना लोग मजाक करेंगे कि यह क्या किया जा रहा है ? उससे भी अधिक मजाक वाली बात यह है कि कहां तो चित्स्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व और कहां यह जड़ अचेतन शरीर और ये दोनों एक कल्पना में जोते जा रहे हैं। यह है सो मैं हूँ—ऐसा एकरस किया जा रहा है, पर इस पर हंसे कौन ? मजाक कौन करे ? सभी संसार में मोही जीव है, इसलिए कोई किसी की बेवकूफी पर हँसता नहीं है। सभी उसी चक्कर में हैं। मोह में राग में द्वेष में कल्पना में हैं।

संकल्प की करामात—शरीर मिलता रहे इसकी औषधि ही यह है कि शरीर में आत्मबुद्धि बनाएं और कुछ नहीं करना है, स्वकाम बने बनाए हुए रहते हैं। जैसे फटाका होते हैं ना, उनमें सिर्फ थोड़ी आग छुवाना है उसका कितना प्रसार होगा वह सब अपने आप हो जायेगा। यहाँ तो थोड़ा बटन दबा देना है और सारा यंत्र चलने लगता है। इसी प्रकार यह जीव तो केवल अपने आपमें देह में आत्मबुद्धि का संकल्प भर बनाता है, फिर देखो कैसी निमित्तनैमित्तिक पूर्वक शरीरों की सृष्टियां चल रही है। विकल्प किया, कर्मबंध हुआ, उदयकाल आया और कैसे ये शरीर वर्गणाएँ जुड़ जाती हैं, मिल जाती है, संचित हो जाती है, देह का रूप रख लेती है।

निमित्तनैमित्तिक व्यवस्था—भैया ! निमित्तनैमित्तिक भाव की बात जब समझ में नहीं आती है तो एक सुगम कल्पना है इस देश में कि ईश्वर की विचित्र लीला है, वह ही कहीं बैठकर ऐसी लीला किया करता है, जहाँ तक समझ में आता है वहाँ तक तो युक्तियों से सिद्ध की जाती है। कुम्हार ने घड़ा बनाया, उपादान मिट्टी है, कुम्हार निमित्त है। दण्ड चक्र आदिक निमित्त हैं, इसमें पूरी युक्ति चलती है, किन्तु जहाँ पर युक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता है, यह वहाँ थक जाता है लेकिन कल्पना में। परन्तु जैसे कि मोटी बातों में निमित्तनैमित्तिक पूर्वक सृष्टि की व्यवस्था है इसी प्रकार उन सूक्ष्म बातों में जिसका मर्म हमारी पकड़ में नहीं आता, वहाँ पर भी निमित्त उपादान की व्यवस्था है। तो यह तो देह के मिलते रहने का उपाय है। बस मान भर लेना है कि शरीर मैं हूँ। इतनी ही कल्पना के आधार पर सारा जगजाल हो गया।

हैरानी की छुट्टी का उपाय—जिसकी सिद्धि में, जिसकी जानकारी में हैरानी हटे, उसकी प्राप्ति का

उपाय क्या है कि मैं मैं ही हूँ, इतना ख्याल बना ले, लो छूट गयी हैरानी। जैसे इष्टमित्र या परिजन किसी से भी छूटने का उपाय क्या है ? मन में सोच ले कि जो जो है सो रहो; मैं तो यह हूँ, मेरे को बाहर में करने को कुछ नहीं पड़ा है, किसी से सम्बंध नहीं है। ऐसा सोच भर लीजिए कि छुटकारा हो गया। तो देह से छुटकारा होने की भी वही पद्धति है। मैं आत्मद्रव्य अपने गुणपर्याय का पिण्ड हूँ, अन्य पदार्थ के गुण पर्याय का पिण्ड नहीं हूँ। शरीर का मैं कुछ नहीं हूँ। मेरा शरीर कुछ नहीं है, क्षेत्रदृष्टि से मैं अपने प्रदेश में ही रहा करता हूँ, यह देह अपने आधारभूत परमाणुवों में ही रहा करता है। देह परमाणु का आश्रय छोड़कर अन्य पदार्थ में नहीं पहुंचता। अन्य कोई जीवद्रव्य भी अपने प्रदेश का आधार छोड़कर इस मुझ आत्मा में नहीं पहुंचता है। प्रकट इसमें भेद है ऐसा जानकर अपने आत्मा को ही आत्मा माने और पर का परिहार करे तो उस जीव को शरीर से सदा के लिए छूट हो सकती है।

देह से छुटकारे में ही आरम्भ—अहा, कोई तो शरीर से छुट्टी हो जायेगी, शरीर न रहेगा ऐसा सोचकर विषाद करते होंगे कि शरीर के लिए ही तो सब दुनिया है, शरीर हष्टपुष्ट है, तगड़ा है तो सब कुछ है। शरीर ही बिगड़ गया, कुछ न रहा तो कुछ नहीं है। मोटी दृष्टि से यह बात ठीक बैठ जाती है जल्दी में। पर यह बात क्या गलत है कि इस आत्मा का इस देह से कब तक पूरा पड़ेगा ? छूटेगा नहीं क्या ? अरे जब तक सम्बंध है तब तक भी इस देह के कारण वास्तविक आराम नहीं मिलता है।

चार देहातियों के बोल में एक शिक्षा—चार देहाती आदमी थे तो उन्होंने सोचा कि राजा भोज के दरबार में कवितावों में बड़े-बड़े इनाम मिल जाते हैं, अपन भी एक कविता ले चलें। सो चले राजदरबार को। रास्ते में उनमें से एक पुरूष ने बुढ़िया को रहटा कातते हुए देखा तो उनमें से वह एक बोला कि मेरी कविता बन गयी। उन तीनों ने कहा-सुनावो। सुनो—'चनर मनर रहटा भन्नाय।' जब थोड़ा और आगे चले तो दूसरे देहाती ने देखा कि एक जगह तेली का बैल खली भुस खा रहा है। सो उसने कहा कि हमारी भी कविता बन गयी, अच्छा सुनावो। सुनो 'तेली का बैल खली भुस खाय।' अब आगे मिल गया कंध पर पींजना रखे हुए एक धुनिया। उसको देखकर तीसरे ने कहा कि हमारी भी कविता बन गयी। अच्छा सुनावो। सुनो 'वहां से आ गये तरकसबंद।' तीन देहातियों की तो कविताएँ बन गयीं। चौथे से कहा कि अगर तुम कविता न बनाकर बोलोगे तो जो इनाम राजा देगा उसे हम तीनों बांट लेंगे, तुम्हें न देंगे। सो वह चौथा बोला कि हम पहिले से कविता नहीं बनाते। हम आशु कवि हैं, हम तो मौके पर ही बना लेते है।

चार देहातियों का कवित्व—अब चले वे चारों राजदरबार को। दरबान से बोले कि जावो महाराज साहब से बोलो कि आज चार महाकवीश्वर आये हैं। राजा से दरबान ने कहा कि महाराज आज चार महाकवीश्वर आये हैं। राजा ने उन्हें बुलाकर कहा कि सुनावो अपनी कविता। सो एक लाइन में खड़े होकर वे क्रम-क्रम से बोलने लगे। सो चौथा जो कहे उसे समझ लेना कि यह चौथे देहाती ने बनाया है। सुनो, 'चनरमनर रहटा मन्नाय। तेली का बैल खरी भुस खाय।। वहाँ से आ गए तरकसबंद। राजा भोज हैं

मूसरचंद।।' अब राजा पंडितों से कहता है कि पंडितों ! इस कविता का अर्थ लगावो। अब कविता में कोई सार हो तो वे अर्थ लगावें।

चारों देहातियों की कविता का अर्थ—उनमें से एक वृद्ध कवि उठा और कहा कि हम इसका अर्थ लगाते हैं, आप सुनिये। ये महाकवीश्वर हैं, इनकी कविता में बड़ा मर्म भरा है। पहिली कविता में कवि ने यह कहा कि यह शरीर चनरमनर रहटा सा मन्नाया करता है। यहाँ गया, वहाँ गया, २४ घंटे रहटा की तरह यह शरीर चनरमनर मन्नाता ही रहता है, और दूसरे कवि ने यह कहा कि यह जो जीव है सो कोल्हू का बैल जैसा बन रहा है, दूसरा के लिए कमाता है और खुद खरी भुस जैसा खाता है। दूसरों के लिए खूब धन कमाकर धर दें कि चार पीढ़ी तक के लोग खायें। इस तरह दूसरों के पीछे श्रम करते और स्वयं का जीवन शुष्क सा व्यतीत करते। न खुद सुख से रह सकें और न दान पुण्य कर सकते हैं। ऐसा जीव कोल्हू का बैल जैसा खली भुस खाता है। और तीसरे कवि ने यह कहा कि इतने में ऊपर से आ गए तरकसबंद मायने यमराज आ गए, मरणकाल आ गया, तो ये चौथे महाकवीश्वर साहब यह फर्मा रहे हैं कि ऐसी स्थिति है, फिर भी राजा भोज मूसरचंद बने बैठे हैं। राजा सुनकर प्रसन्न हुआ कि ये ठीक कह रहे हैं। उन्हें राजा ने इनाम दिया।

विदेह होने का उपाय—ये शरीर की मन की और वचन की सब चेष्टाएँ करना और उन्हें अपनाना, ये सब शरीर बन्धन के कारण हैं। शरीर से छुटकारा पाना है तो उसका उपाय देह से अपने को न्यारा अनुभव करना। यही विदेह होने का अमोघ उपाय है। घरेलू आध्यात्मिक मंत्र है यह कि 'देह से भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी बार-बार भावना करो। बिना माला लिए, बिना अंगुलि पर गिने, पड़े हों तो पड़े ही पड़े, बैठे हों तो बैठे ही बैठे, बारबार यह भावना करें कि देह से भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूँ। और भावना के साथ-साथ ऐसा अपने में चित्रण भी बना लें कि हां है तो यह सही देह से भी न्यारा और अपने ज्ञानस्वरूप मात्र। 'देह से भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूँ', इस तत्त्व की बारबार भावना करने से देह से छुटकारा होता है। इस श्लोक में देह के मिलते रहने का उपाय बताया है और देह से छुटकारा पाने का उपाय बताया है। अब जो उपाय भाये सो करो।

श्लोक 14

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं ! जगत्।।१४।।

देह में आत्मबुद्धि होने से विडम्बना का विस्तार—पूर्व श्लोक में यह बताया है कि जो जीव देह को आत्मा मानता है वह तो देह से अपने को जुड़ाये रहता है, जन्म जन्मान्तर पाये हुए है। और जो जीव देह से भिन्न अपने आत्मा में ही अपने आत्मा का निश्चय करता हो वह इस देह से छुट जाता है। अब इस

छन्द में यह बताया जा रहा है कि देह में आत्मबुद्धि करने से फिर कैसी-कैसी विडम्बना की नौबत आती है। देह में 'यह मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि होने से फिर अन्य देहों में 'यह अमुक है' ऐसी बुद्धि होती है और फिर दोनों जगहों का सम्बंध जोड़ा जाता है। यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा अन्य कुछ है, ऐसी कल्पनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। और इतना ही नहीं कि आखिर यही कल्पना हुई हो, उस कल्पना के फल में यह जीव पुत्र स्त्री आदिक को ही अपनी सम्पत्ति मानता है।

अज्ञानियों के स्त्री से महत्त्व की समझ—भैया ! इतने पुरूष बैठे हैं हमारी समझ में ९० प्रतिशत पुरूष अपनी स्त्री की बड़ाई करते हुए मिलेंगे। १० प्रतिशत होंगे ऐसे जो स्त्री की बुराई करते हों। मोह में प्राय: ऐसी ही बुद्धि जगती है कि इसमें ही बड़प्पन समझते हैं कि मेरी स्त्री बड़े अच्छे स्वभाव की है और कोई-कोई इतना तक कह बैठते हैं कि हमारी जैसी स्त्री कहीं न मिलेगी। क्या सारी दुनिया में न मिलेगी ? पर ऐसी कल्पना बन गयी है कि पुत्र और स्त्री को अपनी सम्पत्ति मानते हैं, बड़प्पन मानते हैं मैं बड़ा हूँ क्योंकि मेरी स्त्री है, मेरे ऐसे पुत्र हैं, मुझसे बड़ा और कौन होगा अर्थात् बड़प्पन पुत्र स्त्री के माप पर किया जाता है और इसी कारण यह सारा जगत बरबाद हो रहा है।

परिजन वैभव से महत्त्व मानने की मूढ़ता—भैया ! जगत तो क्या मनुष्यों की ही बात देख लो। कहते हैं लोग कि जब तक इसकी शादी नहीं हुई तब तक यह द्विपद कहलाता है, दो पैर वाला कहलाता है, और जब शादी हो गई तो चार पैर वाला कहलाता है। एक ही जीव हो और चार पैर हों तो उसका नाम चौपाया (पशु)। पर जीव दो हैं तब चार पैर हैं, इसलिए पशु नहीं कहलाया। एक ही हो और एक के ही चार पैर हैं तो पशु कहलाने की नौबत आए, चौपाये कहलाने की नौबत आए। फिर हो गए बालबच्चे तो षट्पद हो गए। अब भौंरे की तरह घूम-घूमकर सर्वत्र चक्कर लगाता है। और फिर और बच्चे हो गए, पोता नाती हो गए तब तो आगे क्या बतावें ? जिसके अधिक पैर हों ऐसे कोई जानवर का नाम ले लो। इसमें कुछ बिगाड़ नहीं है। जितने चाहे परिजन हो जायें, मगर उनसे अपना बड़प्पन समझें कि मैं इसके कारण बड़ा हूँ तो यह खराबी है। होने को कितने ही हो जायें। यह तो संसार की स्थिति है पर उनसे अपना बड़प्पन मानना मूढ़ता है।

गुणविकास में महत्व—भैया ! बड़प्पन मानो अपने गुण विकास का। मेरा मन कितना शुद्ध है, मेरे विचार कितने पवित्र हैं, मेरी दृष्टि बन्धनरहित ज्ञायकस्वरूप निज तत्त्व में कितनी देर लगती है और मैं उस शुद्ध ज्ञानानन्दरस का कितना स्वाद लेता हूँ, मैं अपने को एकत्व स्वरूप में कितना लगा सकता हूँ—यह बात होती तो तब तो है बड़प्पन और इसके विपरीत स्थिति है, अपनी खबर नहीं, बाहर-बाहर की ओर दृष्टि है तो ऐसी स्थिति में कुशल नहीं है।

परिसंग से विपत्ति—एक साधुजी के पास एक बालक शिष्य पढ़ता था। १८, १९ वर्ष की उम्र हो गयी। उसे खूब पढ़ाया था। अब वह बालक बोला कि गुरूजी हमें इजाजत दो तो हम तीर्थयात्रा कर आएं।

तो गुरूजी बोले कि आत्मा ही तीर्थ है, इसके स्वरूप का अभ्यास करो। कहां भ्रमण करते हो ? शिष्य बोला, नहीं महाराज हमें आज्ञा दो। अच्छा बेटा नहीं मानते हो तो जावो। वह चला यात्रा करने को। बहुत आगे जाकर देखता है कि बहुत आदमी गाजे बाजे पालकी सहित आ रहे हैं। सो उनके आने पर वह पूछता है कि यह क्या चीज है ? तो लोगों ने बताया कि यह बारात है। बारात कैसी होती है ? अरे उसमें एक दूल्हा होता है उसे ही बारात कहते हैं। सो दूल्हा मतलब क्या है ? एक बाराती ने कहा कि एक जवान लड़का होता है, उसकी शादी होती है, फिर उसके बच्चे होते हैं, घर चलता है, इसका नाम बारात। इतना सुनकर आगे बढ़ गया। रास्ते में बड़ के पेड़ के नीचे एक कुवां था, जिसकी मुड़ेल उठी न थी। एक निर्जन स्थान में था। वह कुवें के निकट सो गया। अब उसे स्वप्न आया कि मैं सो रहा हूँ, मेरे पास स्त्री सो रही है और बीच में बच्चा सो रहा है। स्त्री कहती है अरे जरा सरक जावो, बच्चे को तकलीफ हो रही है। सो स्वप्न में विचार तो आते हैं स्वप्न के, मगर कभी शरीर सचमुच क्रिया हो जाती है, जब तेज स्वप्न आता है। तो वह जरा सरक गया। दुबारा स्त्री ने फिर कहा कि थोड़ा और सरकिए, वह थोड़ा और सरक गया, तिबारा फिर थोड़ा सरकने को कहा। तो ज्यों ही तिबारा थोड़ा सरका तो वह कुवें में गिर पड़ा। अब उसकी नींद खुल गयी। सारी विपदा दिखने लगी।

इतने में एक जमींदार आया। सो उसने डोर में लोटा फँसाकर कुवें में पानी भरने के लिए डाला तो उसने उसे पकड़ लिया। और भीतर ही चिल्लाया, भाई डरना नहीं, मैं एक आफत का मारा आदमी हूँ, मैं गिर गया हूँ, मुझे निकाल लो, फिर मैं सारी कहानी सुनाऊंगा। उसे निकाल लिया। अब जमींदार पूछता है कि तुम कौन हो, कैसे इसमें गिरे ? वह लड़का कहता है कि महाराज तुमने बड़ा उपकार किया। मेरी जान बचायी। तो जो उपकारी हो उसका परिचय पहिले मिलना चाहिए। कृपा कर आप ही अपना परिचय दें। तो जमींदार बोला कि अरे मेरी क्या पूछते हो ? मैं एक बड़ा जमींदार हूँ, १० गांव में मेरी खेती है, ६० जोड़ी बैलों की हैं। लड़के हैं, उनकी बहुवें हैं, उन सब बहुवों के भी लड़के हैं। ५०, ५२ बाल बच्चों का कुटुम्ब है। हमारा क्या परिचय पूछते हो ? तो वह लड़का कभी उसके सिर की ओर देखे, कभी पीठ देखे कभी पैर देखे। तो जमींदार कहता है कि क्या तुम मेरी डॉक्टरी कर रहे हो ? कभी सिर की ओर देखते, कभी पैरों की ओर देखते, कभी पीठ की ओर देखते ? तो वह लड़का बोला कि मैं यह सोच रहा हूँ कि मैंने तो स्वप्न में गृहस्थी बसायी थी, सो कुवें में गिर गया और तुमने सचमुच की गृहस्थी बसायी है और अभी तक जिन्दा हो।

आत्महित में ही वास्तविक जीवन—सो भैया ! जिन्दा तो सब हैं ही पर जिनके आत्महित की दृष्टि नहीं हुई, बाहर ही बाहर संचय और परिजन दृष्टि है उन्हें जिन्दा व्यवहारीजन कहें तो कहें, मगर वह जीव ही क्या कि जहाँ अपने आनन्दघन शुद्ध पवित्र स्वरूप का दर्शन भी न हो सके और बाहरी-बाहरी उपयोग में ही चित्त उलझा हुआ रहे। वह जीवन यदि जीवन है तो मरण किसका नाम है ? यह बहिरात्मा शरीर में आत्मबुद्धि करके पुत्र स्त्री आदिक की कल्पना करता है, और मान भी लें इतने में बिगाड़ नहीं है पर

उनके कारण अपने को सम्पत्तिवान् समझते हैं, अपना बड़प्पन जानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं ''हा हतं जगत्'' उनको इस जगत के जीवों की विपत्ति दिख रही है, इसलिए वे खेद के साथ कह रहे हैं कि हा संसार बरबाद हुआ जा रहा है।

राग का विश्व पर शासन—ऐसी ही किंवदन्ती है कि ब्रह्माजी के पेट में ५ जीव आनन्द कर रहे थे—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और स्त्री। सो ये जब बहुत किलोल करें तो उनका पेट दुखने लगा, तो ब्रह्माजी बोले कि अरे निकलो बाहर। पहिले ब्राह्मण देवता से निकलने को कहा। तो ब्राह्मण देवता बोला कि हमें तो तुम्हारे पेट में बड़ा मौज है, हमें न निकालो। तो ब्रह्मा ने कहा कि निकलो हम तुम्हें एक अच्छा काम देते हैं, लोग तुम्हें पूजेंगे, हाथ जोड़ेंगे। सो ब्राह्मण तो निकल गया। क्षत्रिय से कहा निकलो बाहर हम तुम्हें बढ़िया काम देते हैं तुम प्रजा पर राज्य करना, शासन करना, मस्त रहना। वह भी निकल गया। वैश्य से कहा कि निकलो। तुमको बढ़िया काम यह देते हैं कि रोजगार करना, व्यापार करना, खूब धन कमाना, मालामाल होना, सेठ साहूकार कहलाना। वह भी निकल आया। शूद्र से कहा निकलो बाहर। अरे थोड़ी सेवा ही तो करना है, और बिना परिश्रम धन लूटो। वह भी निकल गया। अब स्त्री से कहा कि तू निकल। तो स्त्री ने कहा कि हम नहीं निकलते, वे सब कम बुद्धि के थे सो निकल गए। हम तो तुम्हारे पेट में ही मौज लेंगी। तो ब्रह्मा बोले, अजी हम तुम्हें अच्छा काम देते हैं—देखो थोड़े राग वचन कह देना, थोड़ा अपने हाव भाव दिखा देना, फिर तुम सारे जगत के ऊपर एकछत्र शासन करना। सो ऐसा एक छत्र शासन करने का अधिकार मिला, और वही जिसके अण्डर में हो वह क्या बड़प्पन न चाहेगा ? ऐसी लोक रीति है।

मोह मद—जीव ने इस परिजन के सम्बंध में अपना बड़प्पन समझा अपनी स्त्री से अपना बड़प्पन समझा और यही एक मदिरा पीना हो गया, होश न रहा। और उनमें भी भेद भावना हो गयी। उनके लिए माता से बड़ी स्त्री हो गयी। कभी माता और स्त्री में झगड़ा हो जाय तो पति किसका पक्ष लेगा ? ऐसा नियम तो नहीं है पर प्राय: करके पति अपनी स्त्री का ही पक्ष लेगा। दूसरे समझायें कि अरे माता है, उसकी खबर रक्खो, तो वह कहेगा कि अरे क्या बताएं माता बिल्कुल उल्टा—उल्टा चलती है। अरे अब चलने लगी उल्टा। और जब तुम बच्चे थे, तुम्हें लाड़प्यार से पाला, तुम्हारी सूरत देखकर जिन्दा रही और तुम्हारी ही खुशी में खुशी माना, अगर तुमने खाट पर मूत दिया हो तो स्वयं गीली मूत भरे वस्त्र पर लोटती और तुम्हें सूखे में लिटाती थी और आज वह उल्टी हो गयी उस लड़के की दृष्टि में।

देहात्मबुद्धि के नशे का विस्तार—भैया ! मोह में कितनी कल्पना होती है, कैसा कषायभाव होता है, स्त्री से कितना बड़प्पन माना है ? कभी यात्रा में जाते हैं ना आप लोग स्त्री समेत तो रेल से जब उतरते हो तो कुली की तरह तुम लदते हो कि तुम्हारी स्त्री ? बिस्तर, पेटी, तुम ही तो लादते हो और स्त्री बड़ी शान शौक से चलेगी हाथ में बटुआ लेकर ऊंची एड़ी की पनहिया पहिनकर। इसमें ही पुरूष अपने में बड़प्पन महसूस करता है। कोई यार दोस्त मिल जाय बात करने को और वह जान जाय कि इनकी बेगम

बहुत शान से और बहुत ढंग से रहती है, इसमें ही खुश हो रहे हैं। इन परिजन के कारण यह बिहरात्मा अपने आप को बड़ा मानता है, और न भी कुछ कहे, न बड़ाई करे, न रंग ढंग दिखावे तो मन में तो उस सब कुटुम्ब का चित्रण बना ही रहता है। और शायद भगवान् के दर्शन करते हुए भी भगवान् को भी स्त्री पुत्र से बड़ा न मान पाता हो। इतना आदर प्रभु का भी मन में नहीं होता जितना आदर परिजन का करते हैं। ऐसा विचित्र यह महा मोह मद इस जीव ने पिया है उसका कारण केवल यह ही एक है कि शरीर में उसने यह मैं आत्मा हूँ ऐसी बुद्धि की।

भ्रम मूल के विदारण में विडम्बनाओं के हटाव पर एक बाल दृष्टांत—भैया ! देह में आत्मबुद्धि मिट जाय तो फिर ये सब व्यामोह की विडम्बनाएं समाप्त हो सकती हैं। बच्चों की गोष्ठी में कहानियां और गद्य उड़ते हैं ना। तो उनकी कहानी है कि स्यालनी के गर्भ रह गया तो स्याल से बोली कि अब कहां बच्चे पैदा करें, स्थान तो बतावो ? तो स्याल ने एक शेर का घर बात दिया कि तुम शेर के बिल में अपने बच्चे जन्मावो। अरे यहाँ तो शेर आयेगा। परवाह नहीं है, कुछ साहस रूप वचन कह दिया और कान में मंत्र फूंक दिया। अच्छा जन्मने दो। अब शेर के बिल में पैदा हुए बच्चे। उसके बहुत ऊपर एक छोटी सी भींत थी। सो उस पर जाकर स्याल बैठ गया ताकि दूर से देख ले कि शेर तो नहीं आ रहा है। जब शेर पास में आया तो स्यालनी ने बच्चे रूला दिये। सो स्याल पूछता है कि अरे रानी ! ये बच्चे क्यों रोते हैं ? तो कहती है कि राजन् ये बच्चे शेर का मांस खाने के लिए माँगते हैं। शेर ने सुना तो डरकर भाग गया। अरे हमारा भी मांस खाने वाला कोई है। ऐसे ही १०, २० शेर डरकर भाग गए। अब शेरों ने गोष्ठी की कि अपन को तो यह मालूम पड़ता है कि जो यह शिखर पर चढ़ा हुआ है उसी की सारी बदमाशी है, अपन हिम्मत करके चलें और उसे पकड़कर गिरा दें।

शेरों ने सलाह की कि कैसे वहाँ तक चढ़ें ? कहा कि एक शेर के ऊपर एक इस तरह से सभी चढ़ जायें। सबने सोचा कि ठीक है। पर सबसे नीचे कौन रहे ? सोचा कि एक शेर जिसकी टाँग टूटी है, वही नीचे रहे क्योंकि वह ऊपर चढ़ नहीं सकता। सो नीचे लँगड़ा शेर रहा और एक के ऊपर एक चढ़ते गए। जब स्याल के निकट शेर आ गया तो स्यालिनी ने बच्चे रूला दिये। अब स्याल पूछता है कि अरे रानी ये बच्चे क्यों रोते हैं ? स्यालिनी कहती है कि राजन् ये बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाना चाहते हैं। इतना सुनकर लँगड़ा शेर डरकर भागा। अब सभी शेर भद भद करके एक के ऊपर एक गिर गए। अब तो सभी शेर डरकर भागे और फिर आगे आने की हिम्मत भी न की तो जैसे वे सारे शेर एक लंगड़े शेर के आधार पर थे, लंगड़ा शेर खिसका तो सभी शेर गिर गए, ऐसे ही ये जो सारी विडम्बनाएं है। धन कमाना, संचय करना, परिजन को प्रसन्न करना, ये सारी सारी विडम्बनाएं एक इस भूल पर आधारित हैं कि देह को इसने आत्मा मान लिया। मिथ्यात्व, मोह, पर्यायबुद्धि देह में आत्मत्व की कल्पनाएं जिनके आधार पर सारी आफतें विडम्बनायें पड़ी हुई हैं, ये अवगुण सारे मिटा दिये जायें तो ये सारी विडम्बनाएं खदरबदर हो जायेंगी।

दृष्टि का माहात्म्य--हे भैया ! सब एक दृष्टि का अन्तर है। ज्ञानी चक्रवर्तियों के हजारों परिजन रहे हों, हजारों रानियां रही हों, लेकिन उनकी दृष्टि स्वच्छ थी, सो उनके कोई विडम्बना न थी। एक अपने ज्ञान को सम्भाल लेने पर फिर कोई विडम्बना नहीं रहती। काम वे ही हैं, परिणतियां वे ही हैं, केवल एक दृष्टि के फेर से विडम्बनाएं होना और विडम्बनाएं न रहना, ये दोनों बातें हो जाती हैं। यह जीव देह में आत्मबुद्धि करके ये सब कुटुम्ब मान रहा है। इसीलिए उसको अपनी महत्ता कुटुम्ब के कारण ही समझ में आती है। बच्चे हैं, कुल चलेगा। अरे जिस भव से आया उस भव के कुल की भी खबर नहीं है कि किस कुल में पहिले थे ? तब यह भी कुल क्या है ? तुम एकाकी हो, सारे जीव तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं।

शान्ति का उपाय निजस्वरूप की झलक—ये मोही प्राणी उल्टा चलते हैं। जो अपने विनाश का हेतु है उसे मानते हैं कि यह मेरी सम्पत्ति है। सारी विडम्बनाएं इस देहाध्यास से हैं। इसलिए पढ़कर, गुनकर ध्यान करके, प्रयोग करके एक इस बात की झलक ले लें कि देह तक से न्यारा ज्ञानानन्द स्वभावमात्र मैं आत्मतत्त्व हूँ। ऐसे विविक्त निजस्वरूप की झलक आ जाय तो बेड़ा पार है, और एक इस ही निज स्वरूप की झलक न आ सके, बाहर ही बाहर मोह नींद के स्वप्न देखते रहें तो जिन्दगी तो निकल ही जायेगी। यह समय रूकता नहीं है पर दुर्लभ मनुष्य जीवन की समाप्ति के बाद कदाचित् कीड़े, मकौड़े या स्थावर पेड़ वगैरह हो गए तो अब वहाँ कितने ही क्लेश मिलेंगे। वहाँ सुख व शांति की क्या आशा की जाय ? अब मनुष्य हुए हो तो इस मनुष्य जीवन में तो कुछ सावधानी रहे।

ज्ञानरसास्वाद—भैया ! कितना अन्तर है विषयों के रस में और ज्ञान के रस के अनुभव में ? ज्ञानरस के स्वाद में वर्तमान में भविष्यकाल में सर्वत्र शांति ही शांति है और एक विषयों के प्रसंग में प्रारम्भ में, वर्तमान में, भविष्य में अशांति ही अशांति है। सो सारी विडम्बनाएं मिटाना है तो एक विज्ञानघनैकरस निज आत्मतत्त्व को झांक लो और इस देह से अपने को अत्यन्त पृथक् मानो, स्वरूपदृष्टि करो। फंसे हैं, अलग नहीं हो सकते, यह तो है परिस्थिति की बात, फिर भी देह से अत्यन्त न्यारा हूँ—ऐसा चिन्तन करना यह है ज्ञानसाध्य बात। तो इस ज्ञानभावना से ही हम विपत्तियों से दूर हो सकते हैं। इस कारण सर्वयत्न करके एक इस ज्ञानभावना को भावो और ज्ञानरस का स्वाद लेकर आनन्दमग्न हो, इससे ही सर्व बाधाएँ दूर होंगीं।

श्लोक 15

मूलं संसारदु:खस्य देह एवात्मधीस्तत:।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय:।।१५।।

सकल संकटों का मूल—संसार के जितने भी क्लेश हैं उन सब क्लेशों का मूल कारण शरीर में अपने आत्मा की बुद्धि करना है। क्या–क्या क्लेश होते हैं जन्म, मरण, रोग, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी ये सभी के सभी क्लेश इस कल्पना पर आधारित हैं कि यह देह मैं हूँ। देह मैं हूँ, ऐसी बुद्धि होने पर जन्म का क्लेश है, और देह में आत्मबुद्धि करने वाले का जन्म चलता ही रहता है। मैं जन्मा, ऐसी अन्तर में बुद्धि करने वाले का जन्म चलता ही रहता है। मैं जन्मा, ऐसी अन्तर में बुद्धि बनी हुई है, उससे इस आत्मा को कष्ट होता है। मरण का भी कष्ट तभी है जब शरीर में आत्मबुद्धि की जा रही है। शरीर का तो मरण है ही नहीं और मरण किसी भी पदार्थ का नहीं है। शरीर शरीर में है, जीव जीव में है। जीव निकल गया शरीर रह गया। अब अप्रयोजन जानकर अथवा यह सडेगा और लोगों को तकलीफ देगा, बदबू फैलेगी, रोग बढ़ेगा इस ध्यान से उसे जला देते हैं या गाड़ देते हैं या नदी में बहा देते हैं। सो उस देह के अणु राख के रूप में या अन्य रूप में बिखर जाते हैं। अणु हैं परमार्थ सत् उनका विनाश कभी नहीं होता है, कभी नष्ट नहीं होता किन्तु देह में आत्मबुद्धि का भ्रम बना हुआ है तो देह के वियोग को यह मरण जानकर अपना विनाश जानकर दुःखी रहा करता है।

देहात्मबुद्धि में बुढ़ापा का क्लेश—बुढ़ापा भी बड़ा क्लेश है किन्तु बुढ़ापा का भी दुःख तभी है जब देह में आत्मबुद्धि कर रक्खी हो। अनुभव करके भी देख लो, जो बूढ़े हैं वे कुछ थोड़ा अनुभव करके भी देख सकते हैं कि जब देह की ओर ख्याल न रहे, देह मुझमें लगा है यह भी ध्यान न रहे और यह आत्मा केवल अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को लखता रहे तो उस समय वह अपने को बूढ़ा शिथिल समझ ही नहीं रहा। ऐसी तो कितनी घटनाएं हो जाती हैं कि देह का भान नहीं रहता। घर के काम काज इतनी लगन से किए जाते हैं कि उपयोग अन्य काम में है तब मेरे शरीर भी चिपका है यह ध्यान नहीं रहता। यह तो एक लड़कपन है। वैसे तो संस्कार में, ध्यान में पड़ा हुआ है लेकिन जब यह आत्मा अपने ही स्वरूप को निरख रहा हो, आंखें बंद करे, मौन रह जाय, किसी का ध्यान न करे, अपने आपकी अपने में खोज करने का आग्रह करले ऐसी स्थिति में वह क्षण आ सकता है जिस क्षण शरीर की याद ही न रहे, तब क्या बुढ़ापे का उसे दुःख है ? बुढ़ापे का भी दुःख शरीर में आत्मबुद्धि होती है तो होता है।

ज्ञानवृद्ध के शरीरवृद्धता सम्बंधी क्लेश का अभाव—यह बुढ़ापा दुःख के ही लिए हो, तो जप, तप, व्रत, साधना करना व्यर्थ है। अरे सारे जीवन भर तप करे, व्रत करे और हो गया बुढ़ापा सो सारी कसर निकल भागेगी क्योंकि बुढ़ापा क्लेश के लिए ही होता है, सो ऐसी बात नहीं है। बुढ़ापा क्लेश के लिए उनको है जिनकी इस शरीर में ही 'यह मैं आत्मा हूँ' ऐसी मान्यता रहती है। दुःख दूर करना है तो शरीर में आत्मबुद्धि की मान्यता समाप्त करो। दुःख दूर करने के लिए जो बाहरी यत्न किए जाते हैं, अब इतना धन जोड़ लें, इतने मकान बनवा लें, इतना नाम बना लें तब सुख होगा तो यह काम तो मेंढक तौलने के बराबर है। कोई एक किलो जिन्दा मेंढक क्या तौल सकेगा ? नहीं तौल सकेगा। अरे दो चढ़ावोगे तो दो उचक कर भग जायेंगे। इसी तरह इस जगत के कामों में दो काम बनेंगे दो बिगड़ेंगे। कहां तक बनावोगे ?

और बना भी नहीं सकते। अपने आत्मा में दुःखों के विकल्प किए जा रहे हैं। तो देह में जिसने 'यह मैं आत्मा हूँ' ऐसी बुद्धि बनाई है उनको बुढ़ापे का भय है। योगीजनों के तो जैसे बुढ़ापा आता है वैसे ही उनके अन्तर में निखार बढ़ता जाता है। प्रकृत्या भी यह बात होती है कि जब मरने को होते हैं तो मन में साहस आ जाता है कि क्या करना है घर बार का ? मोह दूर होने का वह कुदरतन एक मौका है। विशेषकर व्यामोही जीव होते हैं जो मरण के समय में ज्ञान और वैराग्य न पाकर उल्टा मोह ममता को बढ़ाते रहते हैं।

देहात्मबुद्धि के रोग का क्लेश—रोग से भी बड़े क्लेश होते हैं। जब चंगे होते हैं तब बहुत बातें करना आता है। पुद्गल जुदे हैं, आत्मा जुदा हैं। रोग किसको होता है ? पुद्गल को। और जब सिर में दर्द होता है तो अमृतांजन लगाए बिना चैन नहीं पड़ती है, मंगावो बाजार से। रोग का भी बड़ा कठिन क्लेश है पर इसमें भी अनुभव करके देख लो। यदि देह में आत्मबुद्धि लगाया है तो वे क्लेश बढ़ेंगे और देह में आत्मबुद्धि ना लगाया है तो वे क्लेश कम हो जायेंगे। जिसके दृढ़तर भेदविज्ञान हुआ है वह सिंहों के द्वारा खाया जाने पर भी, शत्रुओं के द्वारा कोल्हू में पेला जाने पर भी और अनेक आततायियों के द्वारा सताये जाने पर भी रंच भी खेद नहीं मानता। ओह कितना दृढ़ भेदविज्ञान है, संसार के किसी भी पदार्थ से अब अपेक्षा नहीं रही।

देहात्मबुद्धि के पोजीशन का क्लेश—भैया ! जगत में किस पदार्थ में सार पड़ा हुआ है ? मानने की बात और है। सबसे बड़ा क्लेश तो इस मनुष्य ने यह माना है कि मेरी कहीं पोजीशन न घट जाय, मेरा अपमान न हो जाय, मुझे कोई तुच्छ न कहने लगे। यह शल्य इतना विकट अंतरंग में पड़ा हुआ है कि कोई भी काम धर्म के विधिपूर्वक नहीं हो पाते। ३४३ घनराजू प्रमाण इतने महान् विस्तार वाले लोक में यह नगर कितनी सी जगह है। अगर इस नगर के सब लोग भी अपमान करने वाले बन जायें तो भी क्या है ? अपने को तो मरकर न जानें कहां भगना है, न जानें कहां पैदा होना है ? अथवा यहाँ पर भी कोई किसी में परिणमन नहीं करता किन्तु शल्य बनाया जाता है।

विवेकी गृहस्थ—यद्यपि गृहस्थावस्था में इसकी आवश्यकता है थोड़ा नाम रखने की, पोजीशन बनाए रहने की, इसके ही बहाने इसके ही आड़ में अनेक पाप बच जाते हैं किन्तु अन्तर में सम्यग्दर्शन नहीं है, सर्व पर और परभावों से विविक्त अपने आत्मतत्त्व की श्रद्धा नहीं है तो इस नाम और पोजीशन से क्या पा लोगे ? शांति तो मिलेगी नहीं। कैसा खिंचा-खिंचा फिर रहा है यह उपयोग। अज्ञान की रस्सी के बंधन से अपने आपके ठिकाने का तो स्पर्श भी नहीं करता, एकदम बाहर-बाहर ही दौड़ भाग मचाए जा रहा है और दूसरे जीवों के रागवश अपने आपको कष्ट में डाल रहा है, पीड़ित करता रहता है। अनेकों का व्यर्थ दास बनना पड़ता है एक विषय की इच्छा मात्र से।

देहात्मबुद्धि में इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग का क्लेश—इष्टवियोग हो जाना इसमें भी क्लेश देह में आत्मबुद्धि के सम्बंध से है। देह को मानना कि यह मैं आत्मा हूँ, पर देह को मानना कि यह पर आत्मा है

और इनका मेरे में सम्बंध है, इष्ट है, मित्र है, मेरा साधक है, तो देह के नाते से ही तो इष्ट कहलाता है। तब इष्टवियोग का जो क्लेश है वह भी देह में आत्मबुद्धि करने से हुआ। अपने विषयों में जो बाधक पड़ता हो उसे मानते हैं लोग अनिष्ट। अब यह सामने गुजरा तो अनिष्ट का संयोग होने पर जो क्लेश होता है उसका भी कारण देह में आत्मबुद्धि करना है। और भी क्लेशों के सारे नाम लेते जावो। वे सब देह में आत्मबुद्धि करने की भूल पर टिके हुए हैं।

देहात्मबुद्धि के निदान का क्लेश—एक बड़ा क्लेश होता है भीतर में आशा, प्रतीक्षा, वांछावों का। इतना मिल जाय, ऐसा हो जाय, इतना जुड़ जाय ऐसी जो भीतर में एक धारा रहती है उसका बड़ा क्लेश जीव में रहता है। देखो तो हैं सभी ज्ञानानन्दस्वरूप। दुःख का काम ही नहीं है मगर कल्पनाएं ऐसी बढ़ा रक्खी हैं कि दुःखों के पहाड़ बना लिए हैं। ऐसी वांछाएं इतना हो जाय, ऐसा कर लूं, इसका भी क्लेश है। यह क्लेश भी देह में आत्मबुद्धि करने के भ्रम पर टिका हुआ है। क्या कोई अपने आप को ऐसा जान करके कि 'यह मैं आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मा हूँ' ऐसा जाने और फिर इच्छा करे कि मेरे दो मकान बन जाएं, मेरी इतनी जागीर बन जाय, क्या ऐसा हो सकता है ? जब देह को मानते हो कि यह मैं हूँ तो वे सारी जरूरतें और सारी इच्छाएं आकर खड़ी होती हैं। इस मुझ ज्ञानस्वरूप अमूर्त चेतन तत्त्व को २ लाख रूपये चाहिए ऐसा भी कोई सोचता है क्या ? अरे उस अमूर्ततत्त्व में तो धन का स्पर्श भी नहीं होता। वह तो अत्यन्त जुदा है—ऐसा विभाव वहाँ ही उद्भूत होता है जहाँ देह को अपना आत्मा समझ रक्खा हो। लो यह मैं हूँ और ये सब लोग जेन्टिलमैन मेरे निकट जितने हैं उनमें मेरी इज्जत। तब फिर आवश्यकता हो गयी वैभव की परिग्रह की।

देहात्मबुद्धि में वांछाओं का क्लेश—स्वप्न में कितनी आवश्यकता है ? मोह की नींद में जिसे विकल्प हो रहे हों उसको कितनी आवश्यकता है। किसी से भी पूछो कितना तुम्हारे पास हो जाय फिर तो संतुष्ट रहोगे ? हां हां, पहिले तो कह देंगे कि इतने हो जायें तो संतुष्ट हो जायेंगे पर उतने हो जाने पर भी संतोष नहीं हो सकता। अभी और चाहियें। तो वांछावों के भी क्लेश देह में आत्मबुद्धि किए जाने पर टिके हुए हैं। जितने भी क्लेश संसार के समझे जाते हों सबमें ऐसा ही निर्णय है कि उन सबका परम्परया या साक्षात् कारण यह है कि देह में आत्मबुद्धि कर रक्खी है।

मन:संयम—भैया ! अब फिर क्या करना ? जैसे एक समस्या आए कि इस पहाड़ पर घूमना है, इन दो आदमियों को उनमें से एक ने तो सोचा कि इस पहाड़ पर कंकड़ कांटे बहुत हैं, पहिले इस पर चमड़ा बिछा दिया जाय फिर इस पर खूब घूमें। एक ने यह सोचा कि अच्छी मजबूत पनहियां बनवा लें फिर खूब पहाड़ पर घूमें। तो यह बात बतावो कि इन दोनों में से सफल कौन होगा ? पनहियां पहिनने वाला ही सफल होगा क्योंकि पहाड़ पर बिछाने के लिए उतना चमड़ा कहां से आयेगा और फिर बिछायेगा कौन ? यों ही कोई सोचे कि आराम तो मनमाने परिग्रह के संचय करने में है, सो पहिले खूब परिग्रह का

संचय कर लें फिर रही सही जिन्दगी सुख से बितायेंगे। एक ने सोचा कि अपने मन को कन्ट्रोल में रक्खें, अनायास जो मिला है वह भी तो आखिर छूटेगा, तो इस ही जीवन में संतोष सहित जो कुछ है उसे ही अपनी जरूरत से अधिक मानकर गुजारा करलें और मुख्य ध्येय धर्मपालन का रक्खें जिसके लिए हम जी रहे हैं ? तो यह बतावो सुखी कौन हो सकेगा ? जो अपने मन को संयत कर सकता है और मिले हुए को ही अधिक माने, अधिक की वांछा करना तो दूर रहा, ऐसे पुरूष ही संतोष पा सकते हैं, सुखी हो सकते हैं। बाह्य परिग्रहों का संचय करके कोई सुख पाना चाहे तो वह नहीं पा सकता है। तब क्या करना ? अपने आत्मतत्त्व में प्रवेश हो जायें, लो सारे क्लेश दूर हो जायेंगे।

मूर्च्छा में विडम्बना–एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। श्मश्रुनवनीत नामक एक पुरूष था। श्रावकों के यहाँ छाछ पीने गया। तो छाछ पीने के बाद मूँछ पर हाथ फेरा तो उसके हाथ में घी लग गया। सोचा अरे और रोजगार करना व्यर्थ है। एक ही बार मूँछ में हाथ फेरने से इतना घी आया तो सालभर में तो तमाम जुड़ जायेगा और फिर उसे बेचकर कमायी करेंगे। सो वह वैसा ही करने लगा। रोज चार बार छाछ पीने जाये और मक्खन जोड़ता जाय, दो तीन साल में ५–६ सेर घी जोड़ लिया। अब जाड़े के दिन थे, फूंस की झोंपड़ी थी। आग से वह ताप रहा था। झौंपड़ी में ऊपर सिकहरे में घी टँगा हुआ था, उसके मनसूबे बंधने लगे। अब तो कल चार सेर घी बेचने जायेंगे। १०, २० रूपये मिल जायेंगे। उससे बकरी खरीदेंगे, फिर भैंस खरीदेंगे, फिर जमीदारी खरीदेंगे, घर बनवायेंगे, विवाह हो जायेगा, बच्चे हो जायेंगे, खुश होता जा रहा है यह शेखचिल्ली–एक बालक आयेगा कहेगा दद्दा खाने चलो मां ने बुलाया है। शायद ही कोई दद्दा अपने आप रसोई घर में अपने आप पहुंच जाये। जब तक कोई लड़का या लड़की उसे टेरने न आये नहीं जाते, ठीक है दद्दा बनने का शौक तो होना चाहिए। जो कुछ हो उसकी कल्पनाएँ चल रही हैं। तो वह कहता है कि अभी नहीं जायेंगे। दूसरी बार बालक बुलाने आयेगा, दद्दा ओटी खाने चलो। बोला अभी नहीं जायेंगे। तीसरी बार बालक रोटी खाने को कहेगा तो वह लात फटकार कर कहता कि अबे कह दिया कि अभी नहीं जायेंगे। लो उसकी लात घी के डबले में पड़ गयी, नीचे आग थी सो आग में घी के पड़ने से झौंपड़ी में आग लग गयी। वह बाहर निकल आया और पुकारने लगा, दौड़ों रे भाई मेरा मकान जल गया, मेरे बाल बच्चे जल गए, मेरे जानवर जल गये, मेरी सारी जायदाद खत्म हो गयी। लोगों ने सोचा कि कल तक तो यह भीख माँगता था आज कहता कि हमारा मकान जल गया, हमारे बाल बच्चे जल गए, हमारी जायदाद नष्ट हो गयी। समझाने वाले आए। किसी ने कहा अरे वह ख्याल ही ख्याल तो था कुछ भी तो नहीं नष्ट हुआ तो एक पंडित जी उस समझाने वाले से बोले कि अरे सेठ जी ऐसा ही तो तुम करते हो। है तुम्हारा कहीं कुछ नहीं, केवल मानते हो कि अमुक हमारा, अमुक हमारा।

क्लेशकारी पक्षपात–यह मोही प्राणी कल्पित घर के दो चार जीवों के लिए तो जान तक भी देने को हाजिर है और कल्पित गैर पुरूषों के लिए इसके चित्त में दो आने की भी वखत नहीं है। इतना व्यामोह प्राणियों

में पड़ा हुआ है। देह में आत्मबुद्धि होने से ये संसार के सारे संकट इस जीव को भोगने पड़ते हैं। देह में आत्मबुद्धि मिट जाय, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, निर्लेप हूँ, भावात्मक हूँ, चैतन्यतत्त्व हूँ, जरा दृढ़ भावना बन जाय और कुछ न सुहाय, कुछ भी हो बाहर में, उससे मन चलित न हो जाय। इतना आत्मतत्त्व का स्पर्श करने वाला कोई पुरूष हो तो फिर उसके संसार के कष्ट नहीं रहते। जो प्रशंसा करे, जो बढ़ावा दे, जो रागभरी बातें करे, कष्ट के कारण तो वे ही बन रहे हैं और यह मानता है कि मैं सुखी हूँ।

शाबासी का चक्कर–कोई घोड़ा अच्छा हष्ट पुष्ट हो तो मालिक उसकी पीठ पर हाथ फेरता है, शाबाश बेटा, तुम हष्टपुष्ट हो, सब कुछ कहता हो, पर यह सब प्रशंसा किसलिए कही जाती है ? इसलिए कि चढ़ने लायक वह घोड़ा है सो चढ़कर सैर करना है, काम निकलता है, तुरंग में जोतता है, ऐसे ही घर के किसी प्रमुख को सब लोग बढ़ावा देते हैं मेरा यह बहुत अच्छा है, सबका बड़ा ख्याल करता है, खुद को तकलीफ हो जाये, पर किसी बच्चे को रंज में नहीं देख सकता है, बहुत सुधरी आदत है, बड़ा उदार है। तो ये सब शाबासियां किसलिए हैं ? क्योंकि सबको उसी पर चढ़कर आनन्द लेना है। बस यही रीति इस संसार में चल रही है।

हितसम्बोधन–अरे जरा परमार्थदृष्टि करके निहारो तो इस मुझ आत्मतत्त्व का कोई दूसरा हित नहीं कर सकता है। मेरा ही आत्मा निर्मल हो तो हित है। एक ही शिक्षा है कि सुख चाहते हो तो सर्व प्रथम देह में आत्मबुद्धि का त्याग करके अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व में प्रवेश करो और इसे निज आत्मा जानो तो सब क्लेश शीघ्र ही दूर हो सकते हैं।

श्लोक 16

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारै: पतितो (यतितो) विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वत:।।१६।।

स्वच्युति और विषयपतन के क्रमव्यपदेश का कारण–यह मैं अपने आपके आत्मतत्त्व से गिरकर इन्द्रिय के द्वारों से विषयों में गिर गया और उन विषयों को पाकर इस मुझ का यह मैं हूँ, इस प्रकार अपने आपको अब तक नहीं जान पाया। अपने स्वरूप से चिगना और विषयों में लगना ये दोनों कार्य एक साथ चल रहे हैं। फिर भी चिगने का नाम पहिले लिया है और विषयों में गिरने का नाम बाद में कहा गया है। इसका कारण यह है कि मैं तो स्वयं ही हूँ। सो यहाँ से चिगा और बाहर में लगा, इस प्रकार इसमें क्रम बताया गया है।

दृष्टांतपूर्वक स्वच्युति व विषयपतन के क्रमव्यपदेश का विवरण–जैसे घर में से निकलना और बाहर जाना– ये दोनों बातें एक ही हुई ना। घर में से निकलकर बाहर गया ऐसा कहने वाले बोलते हैं ना। तो इसमें घर में से निकलना पिहले हुआ कि बाहर जाना पहिले हुआ, इसका पहिले निर्णय करो। ये दोनों बातें एक

साथ हैं। देहरी के बाहर पैर रखने का ही नाम तो देहरी निकलना है, और देहरी पर से निकलने का ही नाम बाहर जाना है। पर किसी को ऐसा बोलते हुए न देखा होगा कि अमुक पुरूष बाहर जाकर देहरी से निकल गया। लोग यों ही कहेंगे कि देहरी से निकलकर बाहर भाग गया। ऐसी ही बात यहाँ समझो। यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से चिगकर–विषयों में गिर गया और विषयों में लगना और अपने स्वरूप से चिगना ये दोनों एक साथ ही तो चल रहे हैं। फिर भी जैसे अभी दृष्टांत में कहा उस ही तरह यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि यह मैं अपने स्वरूप से चिगकर इन्द्रिय द्वारों से विषयों में गिरा।

स्वच्युति व विषयपतन की परिभाषा–आत्मा स्वयं है ज्ञानानन्दमात्र। ज्ञानानन्द स्वरूप में अपने आपका सम्वेदन करना तो है आत्मस्वरूप में लगना और ज्ञानानन्दस्वरूप अपने को न मान सकना इस ही का नाम हुआ स्वरूप से चिगना। और विषयों में लगना इसका अर्थ है कि पंचेन्द्रिय के उपभोग के साधनभूत बाह्य आश्रयभूत स्पर्श, रस गंध, वर्ण, शब्द हैं इनको उपयोग में लगाना, उपयोग का विषय इन्हें बनाकर इष्ट अनिष्ट कल्पनाएं करना, इसका नाम है विषयों में गिरना।

खुद की ठगाई–भैया ! विषयों में गिरना एक महान् संकट है। कहां तो यह आत्मदेव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी है, प्रभुता की मूर्ति, प्रभुता का स्वरूप और कहां असार इन्द्रियों के विषयों में उपयोग को फंसाना, कितना बड़ा संकट है इस जीव पर ? पर मोह में विषयों को भोगकर यह जीव मानता है कि मैंने बड़ी चतुराई का काम कर लिया। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है कामवासना की पूर्ति करना। सो यह जीव इस कामवासना में लगकर और किसी तरह अपने को समझा कि हम बहुत अच्छे ढंग से सफल हुए हैं और चतुराई मानते हैं। पर चतुराई कहां है ? वह तो संसार में भटकने का उपाय है। जैसे कोई पुरूष किसी को दगा देकर छल करके अपना कोई काम बना लेता है तो वह मानता है कि मैंने बहुत चतुराई खेल ली अमुक की आंखों में धूल झोंककर मैंने अपना अमुक कार्य बनाया। अरे तुमने दूसरों की आंखों में धूल नहीं झोंकी अपनी ही आंखों में धूलभर ली। अरे इतना बड़ा विकट संसार है, इसमें और आगे नहीं जाना है क्या ? भवधारण करके रूलेगा यह दगाबाज यह मायावी पुरूष, इसका वह ध्यान नहीं करता है। जानता है कि मैंने दूसरों को चकमा दिया, पर यह चकमा खा गया खुद।

ठगने की अपेक्षा ठगा जाना भला–एक बार गुरूजी (बड़े वर्णी जी) की शिकायत बाई जी (श्री चिरोंजा बाई जी) से उनके एक मित्र ने कर दी कि बाई जी ये पंडित जी तो चाहे जिस दुकान से ठग आते हैं। जिस ग्राहक ने जिस भाव जो कह दिया उसी भाव सामान ले आते हैं, उससे दाम कभी नहीं ठहराते हैं और रोज-रोज ठग आते हैं। तो बाई जी बोली कि भाई हमारा भैया ठग जाता है पर दूसरों को ठगता नहीं है। यदि यह दूसरों को ठगे तो इसे अपराधी मानें। ठग गया कुछ हर्ज नहीं। पैसे ही तो गांठ से गये, परिणामों में मलिनता तो नहीं आयी, किन्तु ठगने वाला तो अपने परिणाम मलिन करता है और न जाने संसार के कितने संकट अपने सिर पर बाँध लेता है ? इस संसार में गर्व करने का स्थान नहीं है। यहाँ अपनी संभाल बहुत अधिक रखने की आवश्यकता है।

स्पर्श और रस के विषयसेवन का संकट–विषयों की प्रीति इस जीव के लिए महान संकट है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषय की बात तो और इससे होने वाली हानियां तो सबके अनुभव में है। इतनी गंदी बात का क्या विस्तार करें, पर रसनाइन्द्रिय की भी बात देखो क्या हो गया ? यदि आध सेकण्ड जब तक जीभ पर स्वादिष्ट भोजन है रस ले लिया, भोग समझ लिया तो उससे क्या लाभ लूटा ? कितने ही कर्म बंध गए, आत्मस्वरूप को भूल रहे और घाटी नीचे माटी बन गया। साधारण भोजन करते हुए आदमी के सुधि रह सकती है और रसीले भोजन जो आसक्ति के प्राय: कारण होते हैं। उन रसीले चटपटे भोजनों के प्रसंग में आत्मा की सुधि करना बहुत कठिन बात है।

गन्ध विषयसेवन का संकट–ऐसी ही बात इस बेकार नाक की समझ लीजिए। गंध सूँघ लिया तो क्या लाभ लूट लिया ? कोट के कालर पर सेन्ट, कान की गुड़ेरी के बीच में फोवा, खुशबूदार कार्ड जेब में रखना और कोई छोटी सी इत्र की शीशीदान बनाए रहना, सामने इत्र भरने का बर्तन जिसके चार–छें हल्की-हल्की कटोरी रहें, और और सामान रहे तो इन सबसे कौनसा अभ्युदय लूट लिया, जिससे अपने स्वरूप का विस्मरण किया ?

रूपविषयसेवन का संकट–चक्षुइन्द्रिय से मानों किसी का रूप देख लिया तो उससे क्या लाभ पाया ? अरे हाड़ मांस पसीना लोहू इनका लोथड़ा ही तो है। और थोड़ा रूप भेद हो गया, काला हुआ, सांवला हुआ, पीला हुआ, सफेद हुआ, धरा वहाँ क्या है ? मिलता क्या है ? लेकिन रूपदर्शन का लोभी यह पुरूष अथवा कोई अचेतन पदार्थ बड़े चमकदार सुहावने बन गए उनका लोभी पुरूष कौनसा अभ्युदय पा लेता है, अपना समय गँवाता है, मन खोटा करता है, कर्म बँधता है। एक निर्णय रखना कि मुझे किसी अन्य पदार्थ से कुछ प्रयोजन नहीं है, मेरा तो मेरे में निवास करने का काम पड़ा हुआ है। अरे इस निर्णय के कारण अपने सत में विहार करता तो कुछ इसे लाभ मिलता।

कर्णविषय का संकट व विषयपतन में निज का अज्ञान–भैया ! खो दिया जीवन को इसने विषयों के यत्न में। मिला क्या ? शल्य आकुलता, चिंता, श्रम, विडम्बनाएं, ऐसी ही कर्ण इन्द्रिय के विषयों की बात है। सुन लिया राग भरा शब्द, सुरीला शब्द और राग को प्रज्वलित कर दिया तो उससे लाभ क्या पाया ? यह जीव अपने आपके स्वरूप से चिगकर विषयों में पतित हो जाता है और उन विषयों को पा करके यह ऐसी भूल में हो जाता कि इसने अपने आपको जाना ही नहीं कि मैं क्या हूँ ? ये इन्द्रियां ज्ञान कराने का साधन हैं, विषयों में पतित करने का साधन नहीं हैं। पर इन्द्रिय द्वारों से ज्ञान होने के साथ-साथ जो रागद्वेष की वृत्ति लगी हुई है, इष्ट बुद्धि बनी हुई हैं उसकी प्रेरणा से यह जीव विषयों में पतित हो जाता है।

कर्ण व नेत्र का सदुपयोग–भैया ! वे ही इन्द्रियां हैं, उनका ही उपयोग यथासम्भव अपने लिए भी किया जा सकता है। कान भी यों ही हैं। वैराग्य से भरे हुए भजन की किसी सुरीले स्वर वाले के मुख से सुन लिया और अपने आप में उसका भाव भरा जाय तो लो कानों का सदुपयोग हो गया। इस ही प्रकार जब तक

यह चक्षुइन्द्रिय चल रही है तब तक स्वाध्याय में अधिक उपयोग दें। कदाचित् आगे वृद्धावस्था में जब कि दिखना ही बंद हो जायेगा फिर क्या करेंगे ? अरे जब तक आंखें काम कर रही हैं खूब स्वाध्याय करें, देव दर्शन करें, सत्संग करें, इन आंखों से धर्म मूर्तियों के दर्शन करें, धर्मात्माजनों के साथ रहें, अधिक से अधिक धर्मात्माजन हम आपकी नजर के सामने रह जायें ऐसा उद्योग करें। मोही जीव अज्ञानी जीव ही दिखते रहने से आत्मा के आशय में भी अन्तर पड़ जाता है। जब तक यह नेत्रइन्द्रिय काम कर रही है अधिक से अधिक धर्म के साधन, धर्म की मूर्तियां, धर्मात्माजनों के दर्शन में समय बीते।

बेचारी बेकार नाक का सदुपयोग–नाक बेचारी बेकार सी है। इसका सदुपयोग क्या बताएं ? हां इतना ही बहुत है कि ठीक-ठीक प्रकार से वायु का आना जाना रहे और उसका सदुपयोग क्या कहें ? यह नाक हमें तो बहुत बेकार लगती है। फायदा कुछ न पहुंचाए और जीवन को बरबाद कराने वाली यह नाक ही है। नाक के पीछे लड़ाई झगड़े हों, नाक के पीछे जायदाद खत्म कर दें। कितनी बरबादी का कारण है यह नाक ? हां सदुपयोग इसका यही है कि वायु का आना जाना ठीक प्रकार से रहे, धर्मात्माजनों के वातावरण को साधती हुई रहे।

जिह्वा का सदुपयोग–रसना इन्द्रिय पायी तो इसके काम दो होते हैं–एक तो रस का स्वाद लेना और एक वचन बोल लेना। वचन बोले तो कल्याणकारी वचन बोले, आत्महित साधक वचन बोले, बड़े विवेक के वचन बोले। वचन बोलने से ही फँसाव हो जाता और वचन बोलने से ही बचाव हो जाता। वचनों से ही उलझन है, वचनों से ही सुलझन है। बड़े विचार से बोलो। अनेक पर्यायें हुईं, मनुष्य भव को छोड़कर उन अनेक तिर्यंच पर्यायों में वचन बोलने की योग्यता नहीं मिली। गाय भैंस बांय बांय, मेंढ़क टर्र टर्र यों ही चिल्लाते हैं। वाणी मिलती है मनुष्य तो कितनी ही कलावों से बोल सकता है। तो इस वाणी का बहुत विचार-विचार कर ठीक-ठीक सदुपयोग करो। कम बोलना चाहिए। बोलना उससे चाहिए जिससे बोलने में अपना हित होता हो। गृहस्थों की अपेक्षा से आजीविका मिलती हो अथवा जीवोद्धार की बात मिलती हो। व्यर्थ के वचन बोलना यह अपने आपको निर्बल बना देने का साधन है और शल्य चिंताएं बना देने का साधन है।

जिह्वा के दुरूपयोग से दूर रहने की सावधानी–भैया ! मुख से निकले हुए वचन वापिस नहीं होते हैं। जो वचन निकल गए सो तीर के माफिक निकलेंगे। और जिसका लक्ष्य करके निकले उसमें जाकर उन्होंने प्रहार किया। अब वापिस नहीं हो सकते। किसी को खोटा बोलकर या राग भरा वचन बोलकर फिर सोचे कि मेरा यह वचन वापिस हो जाय तो वापिस हो नहीं सकता। जैसे धनुष खींचकर छोड़ा गया तीर वापिस नहीं आता है इसी प्रकार इस मुखरूप धनुष को खींचकर वचनरूपी तीर जो फेंका है तो उसका मुख धनुष के आकार का हो जाता है। ये दोनों ओंठ ऐसे पसर जाते हैं कि खींचे हुए धनुष का फोटो ले लो या उस

मुख की फोटो ले लो, एक आकार मिलेगा। और उस धनुष में से जैसे तीर बिल्कुल सीधा जाकर आक्रमण करता है, ऐसे ही ये वचन निकलकर बिल्कुल सीधा प्रहार करते हैं। इस रसना इन्द्रिय का, इस जिह्वा का यह सदुपयोग है कि प्रभु का गुणगान करें और आत्महित के वचन व्यवहार करें, यह इन वचनों का सदुपयोग है।

स्पर्शन का सदुपयोग–इस स्पर्शन, शरीर का सदुपयोग यह है कि धर्मात्माजनों की सेवा, दीन दु:खियों की सेवा, दूसरों की आपत्ति को दूर करने का यत्न—ये सब इस शरीर के सदुपयोग हैं। सो इन इन्द्रिय द्वारों से भला भी काम किया जा सकता है और बुरा भी काम किया जा सकता है। यह मोही जीव रागमोह के वश में होकर इन इन्द्रियद्वारों से बुरा ही काम करता है। विषयों में गिरता है। यहाँ यह ज्ञानी खेद जाहिर करता है कि हाय इन्हीं सर्वविषयों को पाकर मैंने आत्मा को नहीं जाना।

बीते समय की वापसी की असम्भवता–सारी जवानी विषयभोगों में निकाल दी जाय और जवानी ढलने पर फिर कोई प्रार्थना करे कि मेरा वह समय वापिस हो जाय, मेरे किए हुए उद्दण्डता के काम न किए की तरह हो जायें तो क्या यह हो सकता है ? ऐसा नहीं हो सकता है। जो बीता जैसा बीता वह बीत गया। सो जो गया, जो बीता वह तो बीता, अब भी रहा सहा संभाल लिया जाय, भविष्य का जीवन सुधार लिया जाय तो अब भी बहुत लाभ की बात है। ज्ञानीपुरूष ही अपने अपराध को जान सकते हैं। अज्ञानी तो अपराध भी नहीं जानता कि मैंने क्या अपराध किया ? उसे कितना ही समझावों उसकी समझ में आ ही नहीं सकता है। जब तक अज्ञान अवस्था है कि हां मुझसे यह अपराध हुआ है।

ज्ञानद्वारा अपराध का ज्ञान–ज्ञान होने पर ही यह चिंतन हो पाता है कि मैं अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना प्रतीति से चिगकर, स्वरूप की प्रतीति न रखकर पंचेन्द्रिय के विषयों में पतित रहा, गिर गया, और यही कारण अनादि काल से बना चला आ रहा है। जिस भव में गया उस भव के अनुकूल विषयों में रत बना रहा। उन विषयों को पाकर इसने आज तक भी अपने को कभी भी जान नहीं पाया। भैया ! अब देख लो अन्य के मोह में लाभ मिलेगा या आत्मस्वरूप की संभाल में लाभ मिलेगा बात सुनने की नहीं है किन्तु भीतर ही भीतर साहस बनाने की बात है। कौन रोकता है ? घर कुटुम्ब के लोग चिल्लाते रहें और तुम हां हां भरते रहो और भीतर ज्ञानस्वरूप की भावना बनावो तो उसमें कोई छेड़छाड़ नहीं कर सकता है, कोई रोक नहीं सकता है। कर्तव्य यह है कि हम अपने आप में अपने में ही गुप्त रहकर इस गुप्त तत्त्व को गुप्त पद्धति से गुप्त लाभ के लिए करते रहें, इसमें किसी की रूकावट नहीं हो सकती।

अपराधपरिचय का फल–अपराध के चिंतन का फल तो यह है कि अब अपराध न हो। कोई अपराध किये जाय और अपराध का चिंतन भी करता जाय, आलोचना भी करता जाय तो वह कोई फायदेमय चिंतन नहीं है। कुछ तो फकर आए। अब यह ज्ञानी जीव विषयों से हटने पर और अपने स्वरूप में लगने पर तुल

गया है। उसका दृढ़ संकल्प है कि जो भूल हुई है सो हुई, पर अब यह भूल न की जायेगी। इस तरह अपने अभीष्ट प्रयोजन के लिए ज्ञानी पुरातन अपराध का विचार करता है।

श्लोक 17

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषत:।
एष योग: समासेन प्रदीप: परमात्मन:।।१७।।

समाधिसाधना के लिए प्राथमिक प्रयोग–अपने आपके स्वरूप में बसे हुए परमात्मतत्त्व का प्रकाश करने वाले उपाय क्या हैं, इस सम्बन्ध में इस श्लोक में प्राथमिक उपाय बता रहे हैं कि जैसे कि आगे कहा जायेगा इस पद्धति से प्रथम तो यह चाहिए कि बाह्य वचनालाप का परित्याग करें जो भारी बोलते हैं ऐसे बकवाद करने वाले पुरूषों के परमात्मतत्त्व का प्रकाश होना कठिन है। इससे सर्वप्रथम तो यह उपाय करना ही होगा कि बाह्य वचनालाप को बंद कर दें। बाह्य वचनालाप भी दो प्रकार के हैं। एक तो जिनमें ममता हैं ऐसे पुत्र मित्र स्त्री आदिक परिजनों से प्रेमालाप अथवा अन्य वचनालाप करना, यह तो बहुत ही बाधक है। ये वचनालाप रागद्वेष मोह के वर्द्धक हैं, ज्ञान वैराग्य की याद दिलाने वाले नहीं है। दूसरे प्रकार का वचनालाप है गुरूवों से, साधर्मियों से, सज्जनों से वार्तालाप करना। धर्म प्रगति के लिए धर्मविषयक बात करना यह भी वचनालाप है। यद्यपि यह धर्मीवार्तालाप आत्महित की वार्ता से भरा हुआ है, फिर भी परमात्मतत्त्व के प्रकाश में बाधक है। इस कारण सर्वप्रकार से बाह्य वचनालाप का सर्वप्रथम परित्याग करें।

प्रभुदर्शन का स्थान–यह परमात्मतत्त्व बाहर किसी क्षेत्र में न दिखेगा, जैसे कि लोग अकसर प्रभुदर्शन की उत्कंठा में आसमान को तकते हैं अथवा यहाँ वहाँ ढूँढ़ते हैं, मंदिर में, मस्जिद में, मूर्तियों में, अक्षरों में ढूँढ़ते हैं तो इस तरह अन्यत्र खोजने में परमात्मतत्त्व का दर्शन न होगा। परमात्मतत्त्व का दर्शन अपने आपके अंत:स्वरूप में समाये, इस वृत्ति द्वारा होगा। व्यवहार में, मंदिरों में, मूर्तियों में जो दर्शन करते हैं, उनका प्रयोजन मूर्ति को पूजना नहीं है। क्या कभी किसी ने ऐसा स्तवन करते हुए सुना कि देखो जी तुम जयपुर के अमुक कारीगर के बनाए हुए हो, सफेद पाषाण के हो, तुम स्वर्णवत् रंग के हो, तीन फिट ऊंचे हो, क्या कभी मंदिर में इस तरह की स्तुति करते हुए देखा है ? जिसे देखा होगा तो यों स्तुति करते देखा होगा। हे प्रभु ! तुम वीतरागी हो, सर्वज्ञ हो, शुद्ध स्वरूप हो तो बतलावो यह मूर्ति की पूजा हुई या भगवान की पूजा हुई ? पूजा तो भगवान की हुई पर मूर्ति का आलम्बन लिया है। इसमें भगवान की तदाकार स्थापना है और विधि प्रतिष्ठा से मूर्ति में प्रभु की स्थापना की है।

प्रभु का अन्तदर्शन–मंदिरों की बात तो दूर रही, साक्षात् समवशरण भी हो जहाँ भगवान् गंधकुटी में विराज रहे हों वहाँ पर भी भगवान के दर्शन कहीं बाहर में नहीं होते, किन्तु अपने आपके अंत:स्वरूप में प्रभु के दर्शन होते हैं। प्रभु आंखों से दिखने वाला तत्त्व नहीं है। वह बाहरी क्षेत्र में कैसे दिखेगा ? ज्ञानदर्शन प्रभु

का स्वरूप है, अपने में ज्ञेयाकार बनाकर जो अन्तर में स्वरूप का ग्रहण होता है उस वृत्ति से प्रभु का दर्शन होता है। तो ऐसे गुप्त तत्त्व के दर्शन का क्या वह अधिकारी हो सकता है जो बहिरंग वचनालाप बकवाद बहुत किया करता हो ? प्रभुदर्शन के उपाय में सबसे प्रथम यह करना होगा कि बाह्य वचनों का परित्याग करें।

अन्तर्जल्प का परिहार–बाह्य वचनों का त्याग करके फिर जो अन्तर्जल्प हैं उनका भी सम्पूर्ण रीति से त्याग करें। अन्तर्जल्प क्या है ? ओंठ हिलाकर तो बोलें नहीं। चुप हो गए, मौन रख लिया, पर अन्तर में अभी शब्दानुसार विकल्प चल रहा है अथवा विकल्पानुसारी शब्द चल रहे हैं। नहीं बोलते हैं, फिर भी अन्तर में यह आवाज गूँजती रहती है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं भला हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं पंडित हूँ, शिष्य हूँ नाना प्रकार के भीतर में जो विकल्प चलते हैं और शब्दों को साथ लेते हुए चलते हैं वे सब विकल्प और शब्द इस जीव के अन्तर्जल्प कहलाते हैं। बाह्य जल्पों का परित्याग करके फिर अन्तर्जल्प का भी त्याग करें। यह संक्षेप में परमात्मा का प्रकाश करने के लिए एक योग कहा गया है।

चेतनकर्म का पर में अभाव–वस्तुतः प्रभुदर्शन की तो बात ही क्या जितने लौकिक प्रसंग होते हैं, कुटुम्ब प्रेम, पुत्र प्रेम, मित्र प्रेम ये सब भी बाहर नहीं किए जाते हैं। कोई पुरूष स्त्री से अथवा पुत्र से या मित्र से प्रेम कर नहीं सकता। उसके वश की बात नहीं है कि वह किसी पुत्र अथवा मित्रादिक से प्रेम करले। वह भ्रम से मानता है कि मैंने मित्रजनों से प्रेम किया। किन्तु वह प्रेम कर नहीं सकता है। प्रेम करने की जो परिणति है वह प्रेम करने वाले आत्मा के प्रदेश में ही परिसमाप्त हो जाती है। प्रदेश से बाहर वस्तु की परिणति नहीं होती। प्रेमरूप परिणमन मेरा मेरे से बाहर कहां टिकेगा ? निराधार परिणमन को तो आधारभूत द्रव्य चाहिए। द्रव्य तो जितना यह मैं आत्मा हूँ उतने में ही परिसमाप्त है। बाहर एक सूत भी एक प्रदेश भी प्रेम परिणमन नहीं जाता। फिर ये पुत्र मित्रादिक बहुत दूर बैठे हैं, भिन्न जगह रहते हैं, उनमें कैसे यह मेरा प्रेम परिणमन हो जाय ?

शब्दघड़ी में प्रीति का अभाव–बात वहाँ क्या होती है, इस मर्म को जानने के लिए पहिले यह समझिये कि इस सम्बंध में तत्त्व तीन प्रकार के होते हैं–शब्दतत्त्व, ज्ञानतत्त्व और अर्थतत्त्व। कुछ भी चीज हो उसके सम्बंध में ये तीन धाराये हैं। जैसे मानो घड़ी नाम लिया। यह घड़ी तीन प्रकारों से विदित होगी शब्दघड़ी, अर्थघड़ी और ज्ञानघड़ी। शब्दघड़ी तो वह है जो घ और ड़ी ऐसे दो अक्षर हैं। बतावो इस शब्दघड़ी से कोई प्रीति करता है ? किसी को घड़ी रखने का बड़ा शौक हो तो कहीं १०–२० जगह घड़ी, घड़ी, घड़ी लिख डालो और फिर कहो कि लो घड़ी जितनी चाहो क्योंकि तुम शब्दघड़ी से बहुत प्रीति करते हो। तो क्या इस शब्दघड़ी से कोई प्रेम करता है ? कोई नहीं करता है।

अर्थघड़ी व ज्ञानघड़ी प्रीति के अविषय व विषय–और यह अर्थघड़ी है जो गोलमटोल है, जिस पर सूइयां फिरती है। तो इस अर्थघड़ी से तो लोग प्रेम किया करते होंगे ना ? नहीं नहीं, तुम अपने इस देह प्रमाण

हो, और तुम्हारी जो करतूत होगी, परिणमन होगा वह देह प्रमाण वर्तमान आत्मप्रदेश में ही परिणमन होगा। तो यह आत्मा का परिणमन अपने प्रदेश तक ही सीमित रहा, घड़ी तो बहुत दूर रखी है, चार अंगुल दूर है, हाथ भर दूर है, ५ हाथ दूर है, वहाँ मेरा प्रेम परिणमन कैसे पहुंच जायेगा ? अर्थघड़ी में भी लोगों का प्रेम नहीं पहुंच सकता। तब इस अर्थघड़ी के बाबत जो इतनी कल्पनाएं बनाए हुए हैं, विकल्प जगते हैं, ज्ञान होता है वह है ज्ञानघड़ी और हम विलमा करते हैं, रमा करते हैं घड़ी के सम्बंध में तो इस ज्ञानघड़ी में रमा करते हैं।

प्रीति के विषय का एक अन्य उदाहरण–एक आध और दृष्टांत लो। आपको अपने नाती से मानो प्रेम है तो नाती तीन हुए–शब्दनाती, अर्थनाती और ज्ञाननाती। शब्दनाती तो ना और ती ऐसे दो शब्द हैं, आप लोगों को ऐसे कितने नाती चाहिए ? हम १० मिनट के अन्दर ही ऐसे ५०, ६० शब्द नाती तैयार कर देंगे। और आपके पास रख देंगे। केवल दवात स्याही, कलम और कागज चाहिए। ऐसे ५०, ६० नाती अभी तैयार हो जायेंगे। ना और ती ऐसे दो ही अक्षर तो लिखना है। तो क्या आपका शब्दनाती से प्रेम हो सकता है ? नहीं। तो अर्थनाती से प्रेम होगा। अर्थनाती क्या है जो दो हाथ पैर का है। तुम्हारे घर में जो रहता है वह है अर्थनाती। पर अर्थनाती से तुम्हारा प्रेम हो ही नहीं सकता, लाख उपाय कर लो क्योंकि आपका प्रेम, आपका अनुराग आपके प्रदेशों में ही परिणम कर समाप्त हो जाता है। प्रदेश से बाहर प्रेम परिणमन नहीं जाता है। तो वह अर्थनाती तो १० हाथ दूर, ५० हाथ दूर बैठा है, उस पर तुम्हारा प्रेम कैसे पहुंच सकता है ? तब हो क्या रहा है इस व्यामोह अवस्था में कि अर्थनाती को विषय करके जो आपके ज्ञान में ज्ञेयाकार परिणमन हो रहा है अर्थात् नातीविषयक ज्ञान चल रहा है उस ज्ञान विकल्प में आपका प्रेम है। तब आपने नाती कहां देखा ? अपने ही अन्तर में, बाहर में नहीं देखा। बाहर में तो जैसे सब हैं तैसा ही वह है।

भक्ति का विषयभूत भगवान्–भगवान में भगवान् शब्द तो कोई प्रभुता ही नहीं रखता। लिख दिये चार अक्षर भ ग वा न् । तो उन अक्षरों में न वीतरागता है, न सर्वज्ञता है, न चैतन्यस्वरूप है। शब्दभगवान् की तो भक्ति ही कौन करता है, तब क्या अर्थभगवान की भक्ति लोग करते होंगे ? नहीं अर्थभगवान् परक्षेत्र में है, सिद्ध भगवान सिद्धलोक में हैं। अरहंत भगवान यद्यपि इस काल में नहीं होते हैं जहाँ भी होते हैं वहाँ भी लोक से बहुत दूर विराजमान होते हैं। परक्षेत्र में स्थित अर्थ भगवान् तक मेरा कोई परिणमन पहुंच जाय यह असम्भव बात है। आपका परिणमन आपके प्रदेश में ही रहकर परिसमाप्त हो जाता है। तो अर्थभगवान की भी भक्ति कोई नहीं कर सकता है। तब वीतराग सर्वज्ञ निरंजन शुद्ध जो भगवत् स्वरूप है उस भगवत् स्वरूप के सम्बंध में जो ज्ञान किया जा रहा है अपने ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन चल रहा है उस परिणमन में भक्ति होती है। अर्थात् ज्ञानभगवान में निश्चय से भक्ति बन पाती है–ऐसा अपने अन्तर में ज्ञान द्वारा ज्ञान में प्रकट होने वाले परमात्मतत्त्व को कोई बकवाद करने वाला मनुष्य देख लेगा, दर्शन कर लेगा, यह बात बिल्कुल विरूद्ध है। इस कारण परमात्मतत्त्व के दर्शन करने के अभिलाषी पुरूष को

सर्वप्रथम कार्य यह करना होगा कि बहिरंग वचनालाप का त्याग करें।

अन्तर्जल्प के परिहार की आवश्यकता–अब इसके बाद का कर्तव्य देखिये–बाह्य वचनों का तो त्याग कर दिया और अंतरंग में शब्द ध्वनि उठाये रहे तो उस मौज का पूरा लाभ नहीं उठा पाया। जैसे कोई आहार का तो परित्याग कर दे और भीतर में वांछाएं बनाए रहे कि अच्छी आफत में पड़ गए। सभी उपवास करते हैं तो हमें भी करना पड़ता है, तो उपवास का कोई फल नहीं रहा। जिस रोज तीज का दिन आयेगा उस दिन छोटी-छोटी बच्चियां उपवास करेंगी। करती हैं यहाँ कि नहीं ? तो उन बच्चियों का उपवास क्या ? तेज भूख लगे तो कहो रोने लगें और मां खाने को दे दे। तो खा लें या न खा लें, पर उनका उपवास क्या ? तो जिसके अन्तर में वासना नहीं रहे उसका अनशन सफल होता है। इसी प्रकार बाह्य वचनालाप का तो परित्याग कर दें और अंतरंग में वचन उठते रहें, चलते रहें तो परमात्मा तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। परमात्मतत्त्व के दर्शन के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि बहिरंग और अन्तरंग वचनालापों का परित्याग करें।

आत्म ऐश्वर्यदर्शनविधि की एकरूपता–भैया ! यह संक्षेप से समाधि का योग बताया जा रहा है। किसको ? जो आत्मतत्त्व की साधना के रूचिया हैं, केवल आत्मसाधनारूप एक ही उद्देश्य जीवन का है। इस प्रयोग को गृहस्थजन भी अपनी शक्ति माफिक अमल में लायेंगे तो धर्म की तो पद्धति एक ही है-वे भी परमात्मतत्त्व के दर्शन कर सकते हैं। यहाँ ऐसी द्विविधा नहीं है कि गृहस्थों का प्रभुदर्शन का तरीका और है, और साधु संतों का प्रभुदर्शन का तरीका और है। ऐसी दो पद्धतियां नहीं हैं। भले ही समयभेद स्थिरताभेद का अन्तर हो जाय, पर जिस पद्धति से साधु को ऐश्वर्य के दर्शन होते हैं उस ही पद्धति से गृहस्थ को आत्मऐश्वर्य के दर्शन होते हैं।

सुख दुःख पाने की पद्धति की एकता–भैया ! प्रभुदर्शन की ही बात क्या, सुख और दुःख के पाने की भी पद्धति भी एक है, अन्तर नहीं है कि गृहस्थ को परिवार में राग करके आनन्द मिला और साधु को तपस्या करके देह सुखाने में आनन्द मिला। आनन्द कहते हैं वीतराग ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के सहज दर्शन से होने वाली जो सहज अनाकुलता है उसे। आनन्द तो इस ही पद्धति से मिलता है। जितने रूप में गृहस्थ कर सके वह पाले, जितने रूप में साधु कर सके तो वह पा ले। जैसे अपने बछड़ों से प्रेम करने वाली गायों के अंगवात्सल्य का तरीका एक ही है। पूंछ उठाना और हिलाना। जिस गाय की पूंछ कटी हो वह अपनी पूंछ हिलाती हुई अपने बच्चे के पास दौड़ी आती है और जिसकी पूंछ लम्बी है वह अपनी लम्बी पूंछ हिलाती हुई दौड़ी आती है, पर वात्सल्य का तरीका तो सब गायों में एक प्रकार से है। लौकिक सुख पाने की पद्धति भी एक ही तरह की है। तो प्रभुदर्शन की पद्धति भी गृहस्थ हो या साधु हो एक ही प्रकार से होती है1

अन्तर्जल्पविलय की विधि–उस आत्मा की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम तो बाह्यवचनालापों का परित्याग करना चाहिए और सर्व प्रकार से अंतरंग वचनालापों का त्याग करना चाहिए। जिस विधि से अंतरंग के शब्द भी

छूट सकते हैं वह विधि भी है केवल एक प्रकार की। अपने आप अंत:प्रकाशमान् अनादि अनन्त अहेतुक अबाधित शाश्वत जो सहज भाव है, चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है उसके ज्ञान में ज्ञान को लगा लें तो जब यह ज्ञान इस ज्ञानस्वभाव के ही जानन में लग जाता है उस काल में सहज अनाकुलता प्रकट होती है और उस अनाकुलता के अनुभव के समय में इस जीव को प्रभुता के दर्शन हो सकते हैं, ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है। जहाँ यह समझ में आ गया कि अपने स्वरूप का आलम्बन ही सत्य शरण है और अपने से भिन्न परपदार्थों की दृष्टि बनाना यह सब धोखे से भरा हुआ है, दु:खों का उपाय है।

परात्मप्रकाशक योग–यह आत्मतत्त्व समझ में कब बैठता है ठीक ठिकाने से जब अपने सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव हो। प्रभु के दर्शन करने का उपाय साक्षात तो आत्मानुभव है। और ज्ञानानुभव की साधना में प्राथमिक उपाय ये दो बताये गए हैं कि पहिले तो बाह्यजल्पों का परित्याग करें, बकवाद न करें, मौन हो जावें, कुछ बोलें नहीं, और फिर इसके पश्चात् अन्तरंग में ऐसा पुरूषार्थ करें जिससे भीतर ही भीतर जो गुनगुनाहट उठती है, शब्द चलते हैं वह अन्तर्जल्प भी छूट जाए, तो ऐसी स्थिति में अवसर मिलता है कि वहाँ केवल ज्ञानप्रकाश ही उपयोग में रहे। ऐसी स्थिति ही परमात्मा के प्रकाश करने वाली है और इस ही को आचार्यदेव ने योगसाधना कहकर कहा है कि यह परमात्मा के मिलने का एक उपाय संक्षेप में बताया है।

श्लोक 18

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं तत: केन ब्रवीम्यहम् ।।१८।।

शीतल आत्मगृह–संसार के आताप से तपे हुए प्राणी को शीतलता संतोष देने वाला यदि कोई अमोघ उपाय है तो वह है गुरूवों का वचन। इस ग्रन्थ में गुरु पूज्यपाद स्वामी ने ऐसा हितरूप उपदेश किया है कि उस उपदेश में चित्त जाय तो संसार का संताप भी नहीं रहता। सांसारिक गर्मी या हवा बंद होने आदि के दु:ख तो वहाँ ठहरते ही नहीं हैं। उपयोग वहाँ ले जाने की देर है फिर कहीं कोई कष्ट नहीं है। जगत् के अन्य सर्वदेहादिक पदार्थों से उपयोग को हटाकर अपने आपका जो यथार्थस्वरूप है उस स्वरूप में उपयोग करें तो आताप की बात तो दूर रही, शीतलता का अनुभव होता है। चाहे पौद्गलिक शीतलता न भी हो बाहर, फिर भी अंतरंग में शीतलता और संतोष होता है।

बहिरन्तर्जल्प परिहारविधि की मूल जिज्ञासा–पूर्व श्लोक में यह उपदेश किया गया था कि संसार के संकटों से छूटना हो, मुक्ति पाना हो तो सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि बाह्य वचनालाप को त्याग दें और सर्वप्रकार से अंतरंग वचनालाप को भी छोड़े। तब प्रश्न यह होना स्वाभाविक है कि आखिर वह उपाय क्या है जिसको हम प्रयोग में लायें तो हमारे बाह्य वचनालाप छूट जायें ? उसके समाधान में ही यह श्लोक आया है।

बहिरन्तर्जल्प परिहारिणी मूलभावना–वचनव्यवहार दिखने पूर्वक हुआ करते हैं। लोग कहते हैं ना, न देखे न भौंके। जितने वचनव्यवहार चलते हैं वे दिखाई दें तभी वचन बोले जाते हैं। चाहे मन से दिखाई दे, किसी भी प्रकार वह दिखाई दे तो वचनव्यवहार बनता है। उसके द्वारा जो कुछ दिखाया जा रहा है, क्या दिखाया जा रहा है—रूप। वह तो रंच भी जाननहार पदार्थ नहीं है और जो जाननहार पदार्थ है वह मेरे द्वारा देखा नहीं जा रहा है, फिर बतलावो मैं किसके साथ बोलूं ? क्या इस किवाड़ से बोलने लगूं ? नहीं नहीं, किवाड़ से मत बोलो। तो इस नाक, आँख, कान से बोलने लगूं ? जैसे किवाड़रूप पदार्थ है, वह भी जानता नहीं है ऐसे ही हड्डी, मांस की जो यह शकल है, शरीर है, यह शरीर भी कुछ जानता नहीं है। अरे तो शरीर से बोलने के लिए नहीं कह रहे हैं। शरीर के अन्तर में जो आत्मा है उससे तो बोल लो। क्या शरीर के अन्दर रहने वाला आत्मद्रव्य वह हमें दिखता है ? अगर दिखता हो तो बोल लो। कदाचित् प्रज्ञाबल से अन्दर का आत्मतत्त्व परिचय में आ जायेगा तो बोलने की सिट्टी सब भूल जायेगी। वहाँ तो ज्ञान रस के आनन्द का अनुभव लिया जायेगा। जो कुछ मुझे दिखता है वह जानता नहीं है, जो जानता नहीं उसके बोलने से क्या फायदा ? जानने वाले से बोलो तो लाभ है। सो जो जानता है वह दिखता नहीं, जो दिखता है वह जानता नहीं। फिर किससे बोलें ? यह उपाय बताया है कि तुम चुप कैसे रहो ? बकवाद बोलना बंद हो जाय उसका उपाय दिखाया है। लाभ हो बोलने से तो बोलो।

धर्म वचन में आपेक्षिक हितरूपता–कदाचित् यह कहोगे कि धर्म की बात, उपदेश की बात तो बोलने से सुनने से लाभ है तो भाई यह लाभ आपेक्षिक है सर्वथा लाभ नहीं है। विषय कषाय सम्बंधी वचनों को सुनकर जो हैरानी और परेशानी होती है उन हैरानियों से बचने का कारण यह धर्मवचन है। इस धर्मवचन को सुनते हुए भी हम किसी अपेक्षा से तो लाभ में हैं, लेकिन किसी अपेक्षा से हम अभी अपनी पूर्णपरिणति में नहीं हैं और फिर यह समाधि के लिए तैयारी बनाना है, उसमें आरम्भ में यह यत्न है। जब कभी अपने ही भाई से अथवा मित्र से अपने लाभ की कोई उम्मीद नहीं रहती है तो तब लोग समझाते हैं यार एक दफे तो कह लो। अरे किससे बोलें ? वहाँ कुछ तत्त्व ही नहीं निकलने का है। तो अब यह बताओ किससे बोलें ?

किससे बोला जाय–लोग बच्चों को खिलाकर संतुष्ट होते हैं अपना समय गँवाते हैं, कितने वचन खर्च कर देते हैं। कुटुम्ब में राग भरी बातें कहकर अपने कितने वचन खर्च कर डालते हैं ? यह ध्यान में नहीं लाते। मैं किससे बोलूं ? कुछ आत्महित हो तो बोलने का श्रम किया जाय। यह द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से आत्मद्रव्य के स्वरूप को लखकर समाधिभाव के लिए वार्ता की जा रही है। यह शरीर प्रकट अचेतन है और जो खास चेतन तत्व है, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को लिए हुए है सो शुद्ध चेतन द्रव्य में तो सुनने की गड़बड़ियां ही नहीं हैं। देखो प्रभु किस प्रकार जानते हैं। उनके तो पांचों ही इन्द्रियां नहीं हैं। देह भी नहीं है। तो वह देह भी चिन्मात्र जैसा है। उन इन्द्रियों का वहाँ प्रयोग नहीं होता। तो किस तरह वे जानते हैं ?

अपने आपसे। विश्व में जितने पदार्थ हैं उनके गुण उनकी पर्याय वे सब ज्ञात हो जाते हैं, किन्तु जो स्वतंत्र वाली बात नहीं है, जो स्वयं कुछ द्रव्य नहीं है उसका विकल्प नहीं होता।

प्रभु का शुद्ध जानन–भैया ! अशुद्ध ज्ञेय को हम अशुद्ध बनकर जान सकते हैं। प्रभु शुद्ध है और उनके ज्ञान में शुद्ध ज्ञेय ही आता है। यह दरवाजा ५,६ फीट लम्बा है, चार साढ़े चार फीट चौड़ा है, यह हम तो जान रहे हैं, क्या भगवान् भी यों जानते हैं कि यह ५–६ फीट का लम्बा दरवाजा है। यह आपेक्षिक चीज है, अशुद्ध बात है, कल्पना की हुई चीज है। प्रभु अपने सर्वप्रदेशों से सर्वद्रव्यों को सर्वगुण पर्यायों को जानता है। ऐसा जाननहार यह चैतन्यद्रव्य है। उसमें तो उसको बोला भी नहीं जा सकता, उसके तो इन्द्रियां भी नहीं हैं, सुनने की बात नहीं हो सकती है। कोई भक्त जोर से चिल्लाकर गाए और ऐसी कल्पना करे कि मैं खूब जोर से बोल लूं तो भगवान् तक आवाज चली जाय। भगवान् निकट हों तो भी उनकी आत्मा में आवाज नहीं पहुंच सकती। उनका तो शुद्ध ज्ञातृत्वस्वरूप है। सुनना, सूँघना यह तो खण्ड ज्ञान है, अशुद्ध ज्ञान है। ऐसा अशुद्ध ज्ञान प्रभु के नहीं होता। तब फिर हम चुपचाप मन में बोलते रहें, पढ़ते रहें। पाठ तो क्या बेतार का तार बनकर भगवान् के प्रदेश में उसकी खबर पहुंच जायेगी ? सो वह नहीं पहुंच पाती। फिर अब क्या करना ? भगवान् का जो रूप है वह घट-घट में विराजमान है, हम आपमें भी है। सो उस भगवान् के उस स्वरूप में उपयोग दें तो समझ लीजिए कि हमारी बात भगवान को स्वीकार हो गयी।

शिक्ष प्रयोग–यह आत्मदेव इन्द्रियों द्वारा अगोचर अपने आप में ज्ञानानन्दस्वभावरूप है। यही है आत्मतत्त्व। इससे बोल नहीं सकते। यह दिखता नहीं है। जो दिखता है वह जानता नहीं है। फिर किससे बोलें ? शुद्ध स्वरूप की झलक होने पर इसका अर्थ हृदय में बैठेगा। शुद्ध स्वरूप से दृष्टि विमुख रखने पर तो ऐसा लगेगा कि क्या व्यर्थ की बात कही जा रही है ? पर व्यवहार यह सुनता है, सारी बात तो सही-सही है और बोलते जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं कि मैं किससे बोलूं ? अरे बोलना बंद करने के लिए ही तो वह बोला जा रहा है। यह तो पाठशाला है, मंदिर या स्वाध्याय गोष्ठी है, चाहे यहाँ बैठकर पाठ याद करलो—बड़ी अच्छी बात है अथवा घर जाकर, चाहे दुकान में हो या घर में हो, कहीं जाकर बैठकर याद कर लो। कौनसा पाठ बता रहे हैं याद करने को ? जो दिखता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह दिखता नहीं। फिर मैं किससे बोलूं ? ऐसा यथार्थ स्व–पर का भान होकर ऐसी प्रयोग की बात आये तो यह पाठ याद हुआ समझिये। तब बोल बंद होकर पूर्ण मौन से रहने पर स्वकीय आत्मस्वरूप में विश्राम होता है, उसका सहज आनन्द मानने पर पश्चात् झुँझलाहट की बात, यह बात आप भी बोल सकेंगे। किससे बोलें ?

सरस स्वादी को विरसता में झुँझलाहट–आपको भोजन में पहिले तो परोस दें बहुत उम्दा स्वादिष्ट मिठाई का भोजन और दूसरी बार में परोस दें कोदो सवां के मोटे रोटा तो आप झुँझला कर कहेंगे कि क्या खायें ? अरे धरा तो है खावो, पर स्वादिष्ट भोजन ले चुकने के बाद ये कोदो सवां के रोटा कैसे खाये जा

सकते हैं ? क्या खायें ? वचनव्यवहार समाप्त करने के उपाय से अपने आपके ज्ञानस्वभाव के अनुभव में जो आनन्द जगा है उस आनन्द लेने के पश्चात् जब कुछ अपने से हटकर व्यवहार में लगता हैं तो इसमें अलिप्त होता है। क्या स्थिति आ गयी ? वही पुरानी बात। आत्मस्वरूप में लीनता के क्षण मेरे हों यह स्थिति मुझे चाहिए। किससे बोलें ? यहाँ तो बड़ा अंधेर लगा है। जैसे सोने का आनन्द जो बालक ले रहा है, उसे कोई जगाये तो वह बालक एक दो मुक्के मार ही देता है—मुझे क्यों जगाया ? मैं तो बड़े सुख में था। यों ही ज्ञानी पुरूष अपने आत्मस्वरूप में अनुपम स्वाधीन सत्य सहज आनन्द पा लेने पर जब यह आनन्द छूटता है, बाहरी पदार्थों में विकल्प करना होता है तो ज्ञानी को इस स्थिति पर ऐसी दृष्टि होती है कि कहां अब सिर मारें ? किससे बोलूं मैं।

ज्ञानकला–भैया ! मोक्षमार्ग में सारा महत्त्व ज्ञानकला का है। ज्ञानकला का ही नाम सब देवता है। ज्ञानकला की विशेषतावों के ढाँचे में देवतावों की कल्पना करके श्रृंगार किया गया है। यह भगवती प्रज्ञा यही विजय करती है। भीख मांगने वाले लोग कहते हैं कि तुम्हारी भगवती फतेह करे। भगवती हम कहां ढूँढ़ने जायें ? क्या भगवती की किसी के साथ भांवरें पड़ी थीं जो उन्हें भगवती कहा। भगवती तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है। भगवान् की जो आंतरिक सहज शुद्ध वृत्ति है वही भगवती है। जो भगवान् की हो सो भगवती। भगवान् की है परिणति, वही भगवती है। और जैसी वह भगवती है वैसी ही भगवती हम आप सबके अन्तर में पड़ रही है, उसकी दृष्टि हो तो वह फतेह अवश्य करती है। इस ही का नाम है शक्ति। जो लोग उस शक्ति की उपासना करते हैं वे बाहर में कहां ढूँढ़ते हैं शक्ति ? अपने आपके अन्तर में अपने सत्त्व के कारण सहज होने वाले स्वभाव को देखो, वही शुद्धशक्ति है। उस पर दृष्टि जगे तो यह शक्ति आत्मा का कल्याण कर सकती है।

ज्ञानकला के अपरनाम–इस ज्ञानानुभूति के और भी नाम हैं–जैसे दुर्गा। 'खु:खेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा' जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सके उसे दुर्गा कहते हैं। देखो तो इस जीव को बाह्य समागम सारे सुगम लग रहे हैं। कठिनाई से प्राप्त होनेवाली बात है तो अपने आपका अंत:प्रकाशमान् जो ज्ञान स्वभाव है, जो छेदने से छिदता नहीं, भेदने से भिदता नहीं, जलाए से जलता नहीं, बहाये से बहता नहीं, ऐसे शुद्ध स्वभाव की अनुभूति कठिनाई से प्राप्त होने वाली बात हो गई। इस ज्ञानानुभूति को ही दुर्गा कहते हैं। इसी के ही सब रूप है। जैसे लोक में प्रसिद्ध है दुर्गा, काली, चंडी, भवानी—सब एक शक्ति के रूप हैं। और सरस्वती भी उस ही एक शक्ति का रूप है। और भिन्न-भिन्न पर्वों के उद्देश्य के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देखी गयी हैं। इसी को सरस्वती के रूप में पहिचानो। इतनी शुद्ध शांतमुद्रा सहित ज्ञान की ही मुद्रा प्रकट हो ऐसा रूप बनाते हैं। और कभी जीभ निकली, अनेक हाथों में शस्त्र लिए हुए, मुण्डमाला पहिले हुए एक भयंकर रूप मुद्रा में भी उपासना की जाती है। शक्ति एक है और उसकी भिन्न-भिन्न रूप से उपासना की जाती है।

ज्ञानकला में उद्धार की द्विरूपता–वह शक्ति कौन है ? वह है यही चित्स्वभाव, चैतन्य महाप्रभुत्व,

ज्ञानानुभूति। इस ज्ञानानुभूति शक्ति को जब हम इसके सहज विकास को निरखते हैं तो इस ज्ञानानुभूति का वह सरस्वती रूप है और यह ज्ञानानुभूति कर्मकलंकों को ध्वस्त करते हुए प्रचंड उदय रूप में आती है। उस मुद्रा को देखते हैं तो इस ज्ञानानुभूति में वह कालीरूप दिखता है जिस स्वरूप से यह सारे कर्मकलंकों ध्वस्त कर दे। रग-रग के प्रदेश से शस्त्र निकले हैं। वे राग, द्वेष, मोह, विभाव सारे शत्रु ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसा शक्तिमय यह चैतन्यतत्त्व है। जो जाननहार है वह दिखता नहीं, जो दिखता है वह जानता नहीं। फिर मैं किससे बोलूं ? ऐसी भावना करके वचनव्यवहार को छोड़ें और अन्तरंग के अन्तर्जल्प को त्यागें और स्वरूप में प्रवेश करें। यही उपाय है समता परिणाम करने का।

श्लोक 19

यत्परै: प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पक:।।१९।।

पूर्वशिक्षा का स्मरण–पूर्व श्लोक में यह बात बतायी गयी थी कि कल्याणार्थी पुरूष को चूंकि आत्मध्यान की प्रमुख आवश्यकता है और उसमें प्रथम ही बाधक वचनव्यवहार है। बहुत बोलना, बकवाद करना हित समाधि के इच्छुक पुरूष के लिए विघ्नरूप है। सो उससे किसी तरह छुटकारा पाना चाहिए। इसका विवरण बताया है, और एकदम सीधा यह दिया गया था कि देखो जो मुझे दिख रहा है वह तो जानता नहीं और जो जाननहार तत्त्व है चैतन्यस्वरूप, अंतस्तत्त्व वह दिखता नहीं और वचन व्यवहार जितने होते हैं वे किसी को देखकर ही होते हैं। तब फिर मैं किस से बोलूं ? बाह्यजल्पों का, वचनालापों का त्याग करने का एक सीधा उपाय बताया है।

अन्तर्जल्पपरिहार का एक उपक्रम–अब इस छंद में यह बतलाते हैं कि बाह्यविकल्पों का त्याग करके बड़ा भी बाह्य वचनव्यवहार का परिहार हो चुकने पर भी अन्तरंग के जल्प उठा करते हैं, शब्द चला करते हैं अथवा कल्पनाएं चला करती हैं। उस अन्तर्जल्प में विकल्पों से निवृत्त होने के लिए कैसी भावना करनी चाहिए ? इसका समाधान इस श्लोक में है। जगत में परपदार्थों के प्रति जितने सम्बंध लगाये गये हैं उन सम्बंधों में सबसे निकट आंतरिक सम्बंध होता है समझने और समझाने वाले का। इसलिए अन्य सम्बंधों में भेदविज्ञान कराने का यत्न न करके एक इस गुरूशिष्यत्व के विषय में भेदविज्ञान की चर्चा इस छंद में की है। और निकट सम्बंध ही जब कुछ नहीं है- यह ध्यान में आ गया तो बाह्य सम्बंध तो इसके कुछ है ही नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जायेगा।

गुरूशिष्यत्व जैसे निकट सम्बंध में भेदविज्ञान–भैया ! लोक में झट सम्बंध होना, रिश्तेदार बने ऐसे जितने भी सम्बंध हैं उन सबकी अपेक्षा समझने और समझाने वाले का सम्बंध सुगम और शीघ्र होने वाला होता है। उसी के सम्बंध में कह रहे हैं कि भाई मैं दूसरों को समझाता हूँ ऐसी भी अन्तर में श्रद्धा हो, प्रतीति

हो, विश्वास हो तो वे केवल पागल की सी चेष्टायें समझना, क्योंकि यह मैं आत्मा निर्विकल्प हूँ, और यह मैं ही क्या सर्व जीव स्वरसत: स्वभावत: निर्विकल्प हैं, जैसे कि लोक में प्रसिद्ध है कि पंडित जी ने इन १० बालकों को समझा दिया, सिखा दिया, ज्ञान दे दिया और उस बच्चे ने अमुक महाराज से खूब सीख लिया। जैसे यहाँ लोकव्यवहार में बोलते हैं—उसमें तात्त्विक दृष्टि नहीं रक्खी गयी है, किन्तु जो कुछ फलित देखा गया है निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के प्रसंग उसका ही वर्णन चलता है।

किसी की परिणति का पर में अभाव–एक गुरु यदि अपना ज्ञान शिष्यों को दे दे तो बहुत काल तक शिष्यों को ज्ञान देने पर यह गुरु ज्ञान रहित हो जायेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। और तत्त्वदृष्टि से देखो तो यह समझाने वाला गुरु का आत्मा जितना यह ज्ञानानन्दस्वरूप है तन्मय ही तो है और ज्ञानानन्द का जो विस्तार है वही प्रदेश है। तो यह अपने प्रदेश में ही तो अपना परिणमन करता है। प्रदेश के बाहर कहां परिणमन करे ? फिर इस गुरु का यत्न पर के परिणमन में कैसे हो सकता है ? एक समझाना ही क्या कुछ भी बात किसी एक के द्वारा किसी दूसरे में हुआ नहीं करती। यह परमार्थ दृष्टि की चर्चा चल रही है। कोई परमार्थ की बात को व्यवहारदृष्टि से सुने तो तत्त्व न जमेगा।

प्रत्येक यत्न का प्रयोजन अशान्तिविलय–भैया ! एक नहीं अनेक ऐसे दृष्टांत हैं और घर-घर की घटनाएँ हैं। कोई परिवार का प्रमुख सोचता होगा कि मैं इन १०–२० लोगों पर दया करता हूँ, इन्हें पालता पोषता हूँ। अरे क्या कर रहा है वह प्रमुख ? उसके चित्त में किन्हीं कल्पनावों के कारण कुछ दर्द होता है, क्लेश होता है। बच्चे लोग सुखी रहें, इन लोगों की व्यवस्था अच्छी रहे तो कल्पनावों के उठने से जो अपने आपमें अशांति होती है उस अशांति को दूर करने का प्रयत्न करता है, किसी दूसरे का कुछ परिणमन नहीं करता।

गुरु शिष्य की चेष्टा–यहां दृष्टांत में ली गयी है गुरु शिष्य की बात। चूंकि यह समाधितन्त्र ग्रन्थ है और अध्यात्मयोगीयों को समझाने के लिए इस ग्रन्थ की रचना है और बाहरी सम्बंध एक दूसरे की परिणति समझाने और समझने की ही होती है इस कारण वही दृष्टांत लिया। दूसरे लोग जो मेरे व्यवहार में हितू कहलाते हैं—गुरूजन वे भी मानों इन शिष्यों के विनय से उनके चित्त में उनके उपकार की चिकीर्षा की एक वेदना होती है कि इन्हें खूब सिखा दें, पढ़ा दें, बता दें, तो ऐसी जो उन्हें एक करूणामयी वेदना हुई। उस वेदना के मिटाने का इलाज क्या था ? जो था वही चेष्टा की और समझाने वालों ने जो समझने की चेष्टा की। और भी जो मन, वचन, काय की चेष्टा की, वह भी इन शिष्यों ने अपनी कल्पना के अनुसार जो इच्छाएँ हुईं उन इच्छावों की पूर्ति की।

प्रतिपाद्य प्रतिपादक में स्वतंत्रता का दर्शन–कोई किसी दूसरे का कुछ परिणमन नहीं करता है किन्तु सब अपने आपके भावों के अनुसार अपने में ही अपनी चेष्टा किया करते हैं। यह बात इसलिए कही जा रही है कि ऐ योगियों ! तुम वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप को निरखो। जब किसी के द्वारा आत्मा में कुछ परिणति नहीं होती, हमारे द्वारा किसी अन्य में कुछ परिणति नहीं होती, तब फिर पर के सम्बंध में कोई कल्पनाएँ बनाना या अन्तर्जल्प करना यह विवेक कहा जा सकता है। इन अन्तर्जल्पों को त्यागने के लिए यह एक

उपदेश दिया गया है।

व्यवहार के प्रयोजन के अपरिचय में विडम्बना का एक उदाहरण–भैया ! व्यवहार की बात व्यवहार में है, पर यह निश्चय दृष्टि रखकर कथन चल रहा है। व्यवहार में तो लोग यों भी कह देते हैं कि हमने इतने लोगों को गधे से आदमी बनाया। बतावो यह भी कोई तथ्य की बात है। एक जगह कोई मास्टर बच्चों से ऐसा ही कह रहे थे कि देखो हमने २० गधों का आदमी बना डाला। एक कुम्हार ने यह बात सुनी कि ये गुरूजी महाराज तो गधे से आदमी बना देते हैं। हमारे कोई लड़का नहीं है सो हम भी अपने गधे का लड़का बनवा लें। पहुंचा गुरूजी के पास, बोला आप बड़े दयालु हैं, आपने २० गधों को आदमी बना दिया, एक मेरे गधे को भी आदमी बना दो। मास्टर ने सोचा कि यह तो बेवकूफ मालूम होता है, इस से फायदा उठाना चाहिए। मास्टर ने कहा कि अच्छा ले आना, मैं गधे का आदमी बना दूंगा। गधा वह ले आया। लीजिए साहब। मास्टर बोला-देखो ७ वें दिन ठीक १२ बजे दिन में आ जाना, तुमको आदमी तैयार मिलेगा। वह जानता था कि यह तो देहाती आदमी है। शहर के लोग भी ठीक समय की पाबंदी नहीं करते तो यह देहाती क्या करेगा ?

अब ७ वें दिन वह देहाती दो बजे पहुंचा। बोला मास्टर जी हमारा आदमी दो। तो मास्टरजी बोले कि तुम दो घंटे लेट आए, वह गधे से आदमी बन चुका। दो घंटे पहिले तो यहीं था, यदि दो घंटे पहिले आते तो यहीं तेरा आदमी मिल जाता, पर इस समय तो वह जज बन गया है और फलां कचेहरी में न्याय कर रहा है। सो अब तो हमारे बस की बात नहीं रही। १२ बजे में आते तो यहीं मिल जाता। अब तो तुम कचेहरी चले जावो। तुम्हारे साथ आये तो ले आवो। मास्टर ने गधे को २०–२५ रूपये में बेचकर अपना काम चलाया। अब वह बेचारा गधे का तोंबरा, रस्सी आदि गधे से सम्बंधित चीजें लेकर कचेहरी पहुंचा ताकि उसे देखकर खबर हो जायगी और हमारे साथ चल देगा। सो कचेहरी के मुख्य दरवाजे पर बैठकर कहता है—ओ, ओ, आवो आवो, अरे तुम क्यों हमसे नाराज हो गए हमको दो ही घंटे की तो देर हो गयी। वह बार-बार तोंबरा दिखाकर कहता है—ओह माफ करो- चलो –घर चलो। जज कुछ अर्थ न समझे। तो जज ने दरबानों को हुक्म दिया कि कान पकड़कर यहाँ से हटावो। दरबानों ने उसे कान पकड़कर वहाँ से हटा दिया।

व्यवहार के तथ्य की ज्ञातव्यता–तो भैया ! व्यवहार में कितनी ही ऐसी बातें होती हैं। कुछ होती है निश्चय का प्रतिपादन करने वाली और कुछ होती हैं सद्भूत व्यवहार बताने वाली और कुछ होती हैं उपचाररूप। मास्टर का कहना व्यवहार दृष्टि से गलत नहीं था कि मैंने बीसों गधों को आदमी बना दिया, मगर अर्थ वहाँ क्या था कि जिसमें विवेक कम था, बुद्धि कम थी, पढ़े लिखे न थे—ऐसे मनुष्यों का नाम गधा रक्खा गया है, और लोग कहते हैं अपने बच्चों को-ऐ गधे। तो व्यवहार में तथ्य क्या है ? उस तथ्य से अनभिज्ञ पुरूष कुम्हार जैसे ही धोखे के पात्र बनते हैं।

समागम के काल में विवेक की आवश्यकता–मैं दूसरों को समझाता हूँ दूसरे मुझे समझा देते हैं—ऐसा जो कथन है वह व्यवहाररूप तो है पर परमार्थ से बात ऐसी है नहीं। मैं जो कुछ करता हूँ अपने गुणों का परिणमन करता हूँ, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कर सकता हूँ। कई बातों की खबर तो लूट पीटने के बाद विदित होती है। और जब तक मौज में हैं, उदय भला है, अपना ऐश्वर्य चलता है, चला चलता है तब तक कुछ बातें नहीं भी समझ में आती हैं, पर चीज गुजरने के बाद ध्यान में आती है।

जैसे जब तक इष्ट पुरूष अथवा स्त्री का समागम है तब तक यह ख्याल में ही प्राय: नहीं आता कि यह भिन्न जीव है, मैं भिन्न जीव हूँ। मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं है और यह समागम बिछुड़ने वाला है, ऐसा ध्यान ही नहीं होता। और अचानक जब कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि बिछुड़ जाता है तो ८, १० दिन तो जरा परेशानी रहती है, और अपनी ओर से भी यदि कुछ परेशानी मिटा देवे तो रिश्तेदार नहीं मानते। उनका ऐसा यत्न होता है कि कम से कम इसे १३ दिन तो रोना ही चाहिए, पहिले से क्यों शांत हो ? कोई चौथे दिन आया, कोई छठे दिन आया चाहे रेल में ताश खेलते हुए आये हों पर उस फेरे वाले के यहाँ तो १०–२० कदम से रोते हुए आया करते हैं। तो जब वियोग हो जाता है तब तो कुछ पता हो जाता है कि ओह मेरा कुछ न था, ये संसार के मुसाफिर थे, यह तो होना ही था, १० वर्ष बाद होता या अभी हो गया—ऐसा ज्ञान समागम के सम्बंध में भी रहे तो वह गृहस्थी गृहस्थ के योग्य तपस्वी कहलायेगा।

गृहस्थ के योग्य प्रथम तप–गृहस्थ की मुख्य दो तपस्याएं हैं उन्हें करना शांति के अत्यन्त लिए आवश्यक है। पहली तपस्या तो यह है कि परिग्रह का परिमाण बनाना। मैं इतने से अधिक न रक्खूंगा। और जो भी आय हो उसके विभाग बनाकर इतना धर्म के लिए, इतना खाने पीने के लिए, इतना अमुक कार्य के लिए उसके विभाग बनाना और उन विभागों में गुजारा करना जितना अपने निकट है। उससे अधिक किसी धनी को देखे तो उसमें आश्चर्य न करना और न धन के कारण उनका महत्त्व समझाना –यह है उनकी पहिली तपस्या। अब आप सोच लो। ऐसा करना तो बड़ा कठिन हो रहा है। अरे तो कठिन तो होता ही है, संयम नहीं तो तपस्या नाम इसे क्यों दिया ? पर यह भी सोच लीजिए कि ऐसा यदि किया जाय तो उसमें शांति और संतोष मिलता है या नहीं ? तपस्या का फल आनन्द है, संतोष है।

तप में अन्त: आनन्द–कोई लोग ऐसा समझते हैं कि साधुजन बड़ा कष्ट सहते हैं गरमी में, धूप में ध्यान लगाते, शीत काल में बिना वस्त्र के ही बने रहते, जंगल में पड़े रहते, बड़ा कष्ट सहते। किन्तु यदि साधु सच्चा है, आंतरिक योगी है तो इन तपस्यावों में उसे अद्भूत आनन्द मिलता है। कैसे कि उस तपस्या का पहिला सुफल तो यों हुआ कि गंदे विचार विषय कषाय ये नहीं आ सके। और दूसरा सुफल यह हुआ कि जब विषय कषाय गंदे विचार आत्मा में नहीं आ सके तो ऐसी स्थिति में पर के विकल्प त्याग कर निज ज्ञानस्वरस का अनुभव बना सकें। बाहर से देखो तो वीतराग सहज आनन्द से मानों लगातार घूँट ही पीते जा रहे हों, ऐसे आनन्द से छका हुआ है आत्मा। तपस्या शांति और संतोष के लिए होती है। स्वच्छन्दता व

उद्दण्डता असंतोष और अशांति के लिए होते है। और अंत में वह अपने को असहाय और रीता पाता है। प्रथम तपस्या तो यह हुई गृहस्थजनों की।

गृहस्थ के योग्य द्वितीय तप–दूसरी तपस्या यह है कि वर्तमान में जो कुछ मिला हुआ है समागम चेतन और अचेतन का उस सर्वसमागम के प्रति यह भावना रक्खें कि ये सब विनश्वर हैं, बिछुड़ जाने वाले हैं, मैं तो अपने आप जो हूँ सो ही रहूंगा—ऐसी प्रतीति और भावना रक्खें। यह दूसरा तप है गृहस्थजनों का। अब आप सोच लीजिए कि यदि ये दो तपस्याएँ बन सकीं तो कितना संतोष और आनन्द होगा ? धनी बनने के लिए दौड़ क्यों लगायी जा रही है ? कुछ तो उत्तर दो मन में। बहुत धनी बनकर क्या काम निकल जायेगा ? वास्तविक उत्तर दीजिए। स्वप्न की बातों से समाधान नहीं करना है। क्या होगा अंत में ? लखपति, करोड़पति हो गए तो क्या हो गए ? लोग बताते हैं कि अमेरिका में जो फोर्ड कम्पनी का मालिक था वह मजदूरों से ईर्ष्या करता था, ओह ये बड़े सुखी हैं। अपनी अशांति सब समझता था।

नरजीवन में दो मुख्य आवश्यकतायें–देखो भैया ! शरीर की दृष्टि से इसके अन्दर पहुँचती हैं कोई पाव डेढ़ पाव की रोटियां और बाहर में चाहिए थोड़े सात्त्विक वस्त्र। इन दो चीजों के अलावा और इसे क्या चाहिए ? और तो सब पुण्योदय के चोचले हैं, पुण्योदय को पाकर इतराना है। ऐसा आराम बन जाय, ऐसी कलावों से भोग भोगा जाय, यह सब पर्यायबुद्धि का विस्तार है। और अंतरंग की दृष्टि से इसे क्या चाहिए ? ज्ञान। ऐसा वातावरण, ऐसा संग, ऐसा उपदेश जो निजतत्त्व का, स्वभाव का स्पर्श करा सके, ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभव करा सके—ऐसा चाहिए समस्त ज्ञान का वातावरण। अन्तर को चाहिए ज्ञान की खुराक, बाहर को चाहिए पाव डेढ़ पाव की भोजन की खुराक। इसके अतिरिक्त अन्य सब बातें इसके लिए क्या आवश्यक हैं ?

पुराण महापुरूषों की कृति–बड़े-बड़े राजा महाराजा, चक्री, बड़े वैभवसम्पन्न समस्त, समस्त वैभवों को त्याग देते हैं। यहाँ तक कि वस्त्रों का भी त्याग करा देते हैं, उसकी भी क्यों ममता होना, क्यों चिंता होना, कहां लंगोट सुखाएं, कहां सुखाकर धरें ? एक अध्यात्मयोगी को बाह्य विषय का इतनी भी चिंता अखरती है। योग में बढ़ने पर सब कुछ छूट जाता है, तो बड़े-बड़े राजा महाराजा लोग भी जिन्दगी के सारे अनुभव पा चुकने के बाद यह निर्णय करके गए कि छोड़ो परिग्रह, छोड़ो समागम और एक ज्ञानवासना से ही अपने संस्कार बनाओ। अब समझ लीजिए कि इन बाह्य पदार्थों से हमारा क्या पूरा पड़ेगा ? फिर बाह्य पदार्थों से अपना बड़प्पन मानना या मैं अमुक घर मकान दुकान को बनाता हूँ—ऐसी बुद्धि बनाना इसे उन्मत्त चेष्टा कहें या न कहें।

प्रतिपाद्य प्रतिपादक में स्वतन्त्रता का निर्णय–आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं कि मैं दूसरों के द्वारा समझाया जाने वाला हूँ, मैं दूसरों को समझाता हूँ-ऐसा सम्बंध समझना यह भी उन्मत्त चेष्टा है। बतलावो प्रकृत की हो तो बात है, लोक व्यवहार में लो हम समझाने बैठ गए और आप सब समझने बैठ गए और

दिखता भी ऐसा है। मानो हम तो समझा रहे हैं और आप समझ रहे हैं, पर बात कुछ और ही है। में अपने भावों के अनुसार, इच्छा के अनुसार अपनी चेष्टा करता जाता हूँ और आप अपने भावों के अनुसार अपनी चेष्टा करते जाते हैं। न आप में मैंने कुछ किया, न मुझमें आपने कुछ किया, फिर भ्रम क्यों हो गया लोगों को कि यह समझाते हैं और हम लोग समझते हैं। उस भ्रम का कारण हो सकता है तो एक मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध। क्या मैं जंगल में भी ऐसी बातें किया करता हूँ जैसी अब कर रहा हूँ ? क्या आपको ऐसी उम्मीद है, या जो हमारे साथ जाते हैं उनसे पूछ लो। यदि हम ऐसा करें तो लोग हमें सरासर पागल कहने लगेंगे। या आप लोग क्या कभी इस तरह से कान लगाकर ऐसी दृष्टि लगाकर कभी बैठते हैं ? तो आपका निमित्त पाकर हम अपनी चेष्टा करते हैं और हमारा निमित्त पाकर आप अपनी चेष्टा करते हैं। इतना मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बंध देखकर आगे बढ़ गए, पर न मैं आपको समझाता हूँ और न आपके द्वारा मैं समझाया जाता हूँ। यदि कर्तृत्व मानें तो यह उन्मत्त चेष्टा है। मैं तो निर्विकल्प हूँ, इस भावना के बल से अन्तरंग जल्प का भी परित्याग होता है।

श्लोक 20

यदग्राह्यं न गृह्णातिति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।२०।।

स्वरूपभावना–'मैं क्या हूँ' इस अंतस्तत्त्व को जान लेने पर फिर समाधि के साधना का जो उपाय है बहिर्जल्प का त्याग और अन्तर्जल्पों का त्याग, ये दोनों ही बातें निभ जाती हैं। मैं ऐसा स्वसम्वेद्य तत्त्व हूँ, जो अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुए को छोड़ता नहीं है। जो तत्त्व मेरे में नहीं है वह कभी मुझमें आ ही नहीं सकता और जिस तत्त्व को मैंने स्वरसत: ग्रहण किया है, वह कभी मुझसे अलग नहीं होता। देखो यह अपना स्वरूप जो ग्रहण किए हुए को कभी नहीं छोड़ता उसने ग्रहण किया है सहज ज्ञानस्वरूप को। जो अनादि से अनन्त काल तक शाश्वत तादात्म्य रूप में रहने वाला है वह कभी छूट नहीं सकता। जो मुझमें नहीं है ऐसे यह समस्त परभाव परतत्त्व उनको यह मैं अर्थात् अंतस्तत्त्व कभी ग्रहण नहीं करता। ऐसे अंतस्तत्त्व की जिन्हें दृष्टि नहीं है ऐसे पुरूष बाह्य निमित्तनैमित्तिक भावों के कारण ग्रहण करना और छोड़ना मानता है।

स्वभाव और वर्तमान प्रवृत्ति–मैं बाह्य पदार्थों को न तो ग्रहण किए हुए हूँ और उनका मैं छोड़ना वाला हूँ। छूटा तो वह है ही स्वभाव से। छोड़ने का व्यपदेश तब होता है जब उन्हें ग्रहण किए हुए हों। सो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि किसी तत्त्व में किसी अन्य तत्त्वों का प्रवेश नहीं है। यह मैं आत्मतत्त्व तो सर्वपदार्थों को जानता तो रहता हूँ किन्तु किसी पदार्थ से मेरा सम्बंध है नहीं। ऐसे अपने आपके ज्ञान के द्वारा संवेदन करने योग्य यह मैं अंतस्तत्त्व हूँ। मैं वस्तुत: क्या हूँ, इसका परिचय तब तक नहीं होता जब तक अहंकार

और ममबुद्धि का त्याग न हो सके। अज्ञान की स्थिति में कोई संग्रह भाव को अपनाता है तो कोई त्यागभाव को अपनाता है। मैं इतने मनुष्यों को पालता पोषता हूँ, इतने घर दुकान की व्यवस्था बनाता हूँ, जैसे यह श्रद्धा मोह में भरे हैं इसी प्रकार अन्तर में यह विकल्प जगना कि मैंने अमुक-अमुक चीज को त्याग दिया है, मैंने घर छोड़ दिया है, आहार का परित्याग कर दिया है, ऐसे त्यागसम्बंधी विकल्पों को अपनाना यह भी मोह है।

व्यामोह में ग्रहण त्याग का विकल्प–यथार्थ श्रद्धा सहित गृहस्थ यदि घर को अपना कह दे और घर की व्यवस्था मैं करता हूँ ऐसा वचन बोल दे तो श्रद्धा में कोई दोष नहीं है। ऐसे ही कोई यथार्थ श्रद्धा सहित त्याग की भी बात बोल दे तो श्रद्धा में वहाँ भी दोष नहीं है। किन्हीं पुरूषों को तो ऐसा व्यामोह पड़ा है कि वे पर को लपेटने का विकल्प रखते हैं और किन्हीं को तो ऐसा व्यामोह पड़ा है कि वे त्याग करने का विकल्प अपनाते हैं।

आत्मा का यथार्थ ज्ञातृत्व–भैया ! परपदार्थ तो छूटे ही हुए हैं। न मैं उनका ग्रहण करता हूँ, न त्याग करता हूँ किन्तु मैं जानता भर हूँ। पहिले मैं इष्ट बुद्धि सहित जानता था अथवा मैं उन्हें अपनाता हुआ जानता था, अब वहाँ न अपनाता हुआ यथावत् जानता हूँ, पर मैं जानने से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता हूँ। जो अन्य पदार्थों को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है, स्वत: ही विविक्त है, शाश्वत परिपूर्ण है ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूँ। मरण समय में विषाद इस जीव को इस बात का अधिक होता है कि मैंने इतनी कमायी की, इतना संचय किया और यह सब एक साथ छूटा जा रहा है। यथार्थ ज्ञान वालों को ऐसा विकल्पमय क्लेश नहीं होता है। वे जानते हैं कि न मैंने कुछ परपदार्थों की कमायी की है और न परपदार्थ मेरे साथ हैं, जैसा मैं था वैसा ही हूँ और यह मैं पूरा का पूरा ही यहाँ से जाऊँगा, पूरा ही रहूंगा, अपने में अधूरेपन का विश्वास ज्ञानी को नहीं है।

स्वरूपपरिचय बिना विडम्बनाओं पर विडम्बना–ये जितनी भी लोक सम्बंध की विडम्बनाएँ बनी हैं वे स्वरूपपरिचय बिना निमित्तनैमित्तिक सम्बंध से बढ़ बढ़कर कुछ कल्पनाएँ करने से बन गयी हैं और ये कल्पनाएँ बन गयीं बड़ी हठपूर्वक। अनर्थ का इतना तीव्र आग्रह को गया है कि वह उसे त्याग नहीं सकता। किसी भी क्षण यह जीव ऐसा अनुभव करना नहीं चाहता कि मैं वास्तव में हूँ ही सबसे न्यारा, केवल निजस्वरूप मात्र हूँ, ऐसा रंग अन्तर में चढ़ा हुआ है कि अकेला अनुभव नहीं कर पाता। मैं इतने वैभव वाला हूँ, इतने संग वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, ऐसा ही अनुभवन चलता रहता है। यह मैं एक असत्य की हठ। इस असत्य के हठ से किसी समय ऐसा धोखा होगा कि एकदम ऊंचे से जैसे नीचे गिरना होता है, ऐसा ही पतन होगा। आज श्रेष्ठ जन्म मिला है, मनुष्य हुए हैं, बड़ी कलावों से अपना व्यवहार किया करते हैं पर न रहा अपने सत्यस्वरूप का ध्यान और न की गयी कुछ भी अपने स्वरूप की उपासना, परभावों की ही हठ रही, ऐसी कुहठ का फल यह है कि यह मनुष्यभव से छूटकर न जाने किस निम्न हालत में पहुंचेगा।

मन के दुरूपयोग का फल–भैया ! मन मिला है पर मन का सदुपयोग नहीं करना चाहते। मन का सदुपयोग यही है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिंतन में इसे लगाया जाय और दूसरे नम्बर का सदुपयोग यह है कि संसार के समस्त प्राणियों का भला होना सोचा जाय, सब सुखी रहें। तो मन का सदुपयोग न किया गया बल्कि दुरूपयोग किया, दूसरों का अहित विचारा, अपने स्वरूप की सुध लेने का भी ख्याल न रक्खा तो मानो प्रकृति कहेगी कि तुम्हें मन की क्या जरूरत ? दिया है तुम्हें मन तो मन का दुरूपयोग तुमने किया। फल यह होगा कि मन न मिलेगा, क्योंकि तुम्हें मन की जरूरत ही नहीं है। मन दिया है, पर सदुपयोग नहीं करना चाहते।

कर्णेन्द्रिय के दुरूपयोग का फल–कर्णइन्द्रिय प्राप्त हुई है, पर कर्णइन्द्रिय पाकर भी यह व्यामोही जीव इसका सदुपयोग नहीं करना चाहता। सुनेगा तो कलह की बात, राग की बात गप्पसप्प। धर्मवार्ता अथवा आत्महित जिनवचनों से सम्भव है, उन वचनों में कर्णइन्द्रिय को नहीं लगाता, धर्म वचन नहीं सुहाते, कौतूहल की बातें भली लगती है, तो प्रकृति का यह निर्णय होगा कि तुमको कर्णेन्द्रिय की भी जरूरत नहीं मालूम होती क्योंकि मिले तो कान, पर कानों का सदुपयोग नहीं किया। अब कर्णेन्द्रिय की तुम्हें जरूरत नहीं है। कर्ण भी खत्म हो जायेंगे। अब पंचेन्द्रिय न रहें ऐसी स्थिति हो सकती है।

नेत्र के दुरूपयोग का फल–आंखें पायीं, पर आंखों का सदुपयोग नहीं किया जाता है दुरूपयोग ही किया जाता। जैसे कि सुन्दररूप निहारना, जो इष्ट पदार्थ हो उसे ही देखना, कैसा कैसा इस चक्षु इन्द्रिय का विषय है कि छोटे लोग जो कुछ पैसे ही कमा पाते हैं तो चाहे वे भर पेट खाना न खायें पर लगन लगी है सिनेमा के देखने की। ऐसी लगन लग गयी है कि सिनेमा देखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। जिसमें जिसकी बुद्धि लगी है वह उसी में अपने उपयोग को लगाता है। जिसके रागबुद्धि लगी है वह राग भावों में ही अपना उपयोग लगाता है और जिसको आत्महित साधना की बुद्धि लगी है वह देवदर्शन, धर्मात्मावों का संग, स्वाध्याय इन्हीं में अपना उपयोग लगाता है। जिसकी रागभावों में बुद्धि है उसको प्रकृति का यह फैसला है कि तुम्हें मिले थे नेत्र, पर मालूम होता है कि इन नेत्रों की तुम्हें जरूरत नहीं है। सो अब नेत्रइन्द्रिय भी तुम्हें न मिलेगी। ऐसे घटते घटते यह जीव एकेन्द्रिय तक हो जायेगा। आत्मा की असावधानी में और एकेन्द्रिय में भी सबसे अधिक निकृष्ट जीव हैं निगोद जीव। सो ऐसा निगोद तब बनने का प्रसंग होगा, यदि आत्मा की सावधानी न रक्खी।

स्वरूपदर्शन की असावधानी का फल–देखो भैया ! अपने स्वरूप से यह स्वभावत: अपने स्वरूपरूप है। इसमें जो नहीं है वह कभी आ नहीं सकता और जो है वह कभी छूट नहीं सकता। मुझमें न द्रव्यकर्म है, न शरीरादिक पुद्गल हैं। और स्वभावदृष्टि से देखो तो इसमें न रागद्वेषादिक भावकर्म है। धन वैभव तो प्रकट विराने हैं, ऐसे इन समस्त भिन्न तत्त्वों का मेरे स्वभाव में ग्रहण नहीं है। ऐसे सबसे विविक्त इस चैतन्यस्वभाव को जिसने नहीं पहिचाना उसकी संसार में ऐसी ही अवस्थाएं चलती है, जैसे कि हम किसी दीन पुरूष को निरखते हैं। जिनकी स्थिति बहुत खोटी है ऐसे बेचारे पशुवों को देखते है—रोगी हैं, काटे

छेदे जा रहे हैं, कषाइयों के वश में हैं, उनको देखकर कुछ तो ध्यान करना ही चाहिए कि अपने आत्मा की सावधानी न रक्खें तो उसका यह फल है कि ऐसी अवस्था मिलेगी।

व्यामोह में करूणा का कारण–भैया ! होता तो है कुछ ध्यान किसी दुःखी सताये हुए पशुओं को देखकर करूणा तो आती है, वह करूणा इस बात की सूचना देती है कि इसने उस जीव के साथ अपनी तुलना की है अन्यथा इसे करूणा नहीं आ सकती। ऐसा ही तो मैं जीव हूँ जैसे कि ये सूकर आदिक हैं। ऐसी भीतर में घुसी हुई धारणा पड़ी है उस जीव के तब तो सताये हुए पशु को निरखकर अन्तर में वेदना जगती है। उस अन्तर वेदना के सम्बंध में यह भावना करनी चाहिए कि यह सब भूल जो है ज्ञान भावना से शून्य होने पर है।

देहों की अवगाहना से वैराग्य का शिक्षण–जब जीवों की विशेष अवस्थाएँ जान रहे हो ऐसे ऐसे मगर हैं, मच्छ हैं–स्वयंभूरमण समुद्र में सबसे बड़ी अवगाहना का मच्छ है, एकेन्द्रिय आदिक में ऐसी-ऐसी अवगाहना वाले जीव हैं। इन सब पाठों को पढ़कर यह सोचना चाहिए कि एक निज ज्ञानस्वभाव की भावना के बिना जीवों को ऐसी-ऐसी देहों में जन्म लेना होता है। सूक्ष्म निगोद जीव का अंगुल के असंख्यातवें भाग शरीर होता है और उसमें एक प्रदेश बढ़े, दो प्रदेश बढ़े इस तरह से एक-एक प्रदेश बढ़ बढ़कर एक बड़े मच्छ की अवगाहना बराबर हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा, इतना देह तक पा लेता है। जघन्य अवगाहना से इस अवगाहना तब बीच में कितनी प्रकार के शरीर हुए, अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर शरीर पर एक-एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते इतनी बड़ी अवगाहना तक कितने विकल्प होंगे, उतनी प्रकार के शरीरों में इस जीव ने इस ज्ञानभावना के बिना भव धारण किया।

आत्मभावना का प्रसाद–वह कौनसी भावना है, कौनसा वह आत्मस्वरूप है जिसके प्रसाद से सब संकट मिट जाते हैं, उसका ही वर्णन इस श्लोक में है। मैं वह परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ जो न ग्रहण किए हुए को तो ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुए को छोड़ता नहीं है, किन्तु सर्व प्रकार से सबको यथावत् जानता रहता है। ऐसा अपने आपके द्वारा सम्वेद्य मैं आत्मतत्त्व हूँ। ऐसे आत्मस्वरूप की भावना के बल से यह जीव बाह्य वचनव्यवहार को छोड़ता है और अन्तरंग में उठने वाले जल्पों का परित्याग करता है, परविषयक किसी भी प्रकार की कल्पना को नहीं होने देता है। और तब समाधिजात आनन्द को अनुभवता है।

जोड़रहित तोड़रहित निर्विकल्पभाव की प्रसिद्धि–यह मैं आत्मतत्त्व परिपूर्ण पुष्ट हूँ। जो इसमें है वह यहाँ से कभी छूटता नहीं है और जो इसमें नहीं है वह कभी भी आ सकता नहीं है, ऐसा ज्ञानानन्द स्वभावमात्र यह मैं आत्मा अपने आपके ज्ञान द्वारा ही सम्वेदन करने के योग्य हूँ। इस श्लोक में यह निर्विकल्प स्वरूप का वर्णन इसलिए किया गया कि इससे पहिले श्लोक में बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प का त्याग करने का उपाय में प्रतिपाद्य प्रतिपादक का भी कुछ सम्बंध नहीं है। यह बताकर स्व को निर्विकल्प प्रसिद्ध किया था। अब वह निर्विकल्प आत्मतत्त्व किस प्रकार है इसका वर्णन इस छंद में इस रूप में किया है कि न तो इसमें

कोई जोड़ होता है और न इसमें से कुछ तोड़ होता है। जो निर्विकल्प पदार्थ होता है वह जोड़ और तोड़ दोनों से रहित होता है। ऐसे इस निर्विकल्प स्वरूप को बताकर अब यह दिखा रहे हैं कि ऐसा आत्मानुभव होने से पहिले इस आत्मा की क्या-क्या अवस्था हुई है ? पूज्यपाद स्वामी इस विषय में अब कह रहे हैं।

श्लोक 21

उत्पन्नपुरूषभ्रान्ते: स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।

तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ।।२१।।

भ्रमचेष्टा–यहां एक दृष्टांतपूर्वक भ्रम की बात बता रहे हैं-जैसे प्रात:काल ब्रह्ममुहूर्त में कोई टहलने जा रहा हो, बहुत दूर निकल गया और ऐसी सड़क पर निकल गया जिस पर वह कभी न गया था। कुछ अंधेरे में कुछ उजेले में बहुत दूर पर एक वृक्ष का ठूठ खड़ा हुआ था। शाखायें तो सब गिरा दी गयी थीं, खाली सूखा ठूठ रह गया था जो ५ या ५।। फुट का ऊँचा था। उस टहलने वाले ने देखा, पर वह समझ न पाया कि यह ठूठ है। दूर से दिखाई देने पर उसे पुरूष का भ्रम हो गया। तो उस ठूठ में पुरूष का भ्रम हो जाने से अब उसकी चेष्टाएं कछ और प्रकार की हो गयीं। यह कौन भयानक खड़ा है, कहीं डाकू तो नहीं है, कहीं और कोई धोखे वाला तो नहीं है, उसे कुछ भय सा गया, कुछ जिज्ञासा सी हो गयी, बात क्या है, इतने समय यहाँ यह क्यों खड़ा हुआ है ? तो जैसे ठूठ में पुरूष का भ्रम हो जाने से कुछ अन्य–अन्य प्रकार की चेष्टा हो जाती हैं, इसी प्रकार इस देहादिक में आत्मा का भ्रम हो जाने से पहिले मेरी ही ऐसी विचित्र चेष्टाएं हुई थीं।

भ्रममूलक व्यवहार–कहां तो यह ज्ञानानन्दस्वभाव स्थिर अचल ब्रह्मस्वरूप है और कहां इतनी चेष्टाएं करनी पड़ रही हैं ? किसी को मित्र माना, किसी को रिश्तेदार समझा, ऐसा जैसा जिसका व्यवहार है उस प्रकार का व्यवहार करना यह देहादिक में आत्मा का भ्रम होने से ही तो हो रहा है, किसी के पैर छू रहे हैं, किसी को आशीर्वाद दे रहे हैं, किसी से घुल मिलकर बातें कर रहे हैं, किसी से कैसा ही व्यवहार है, यह क्या व्यवहार है ? यह एक ऐसा भी व्यवहार है कि समधिन समधी को देखकर अलग छिप जाती है। आंखों एक दूसरे को कोई देख नहीं सकते या और और तरह के विचित्र व्यवहार चलते हैं। ये क्या आत्मा के दर्शी के व्यवहार हैं अथवा आत्मत्व के नाते के व्यवहार चलते हैं। ये देह में आत्मा का भ्रम हो जाने से सारे व्यवहार हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी के आशय में अन्तर–भैया ! एक चेष्टा नहीं, संसारी पुरूषों के मन, वचन, काय की जितनी चेष्टायें हो रही है, उन सबमें देह में आत्मा के भ्रम का भूल पड़ा है। हालांकि लोकव्यवहार में वह कर्तव्य की बात मानी जाती है। जैसे देश की रक्षा करना, समाज की रक्षा करना, कुटुम्ब की रक्षा करना

कर्तव्य माना जाता है, ठीक है, पर इस प्रकार के जो परिणाम होते हैं उनमें तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार होते हैं। ये सब बुद्धियों क्या देह में आत्मा की बुद्धि किए बिना हो सकती हैं ? होती भी हैं किसी ज्ञानी के, ऐसा निष्काम कर्मयोग है परन्तु निष्काम कर्मयोग में आसक्ति नहीं होती है। आसानी से बने तो बने, न बने तो उसके लिए कमर कसकर नहीं गिरा करते हैं। इतना अन्तर है आसक्तिपूर्वक कार्य करने में और निष्काम कर्मयोग में।

अनासक्ति का एक उदाहरण–एक कथानक है कि नगर का राजा गुजर गया तो मंत्रियों ने सलाह की कि राजवंश में तो कोई उत्तराधिकारी है नहीं। किसे राजा चुना जाय ? सलाह में निश्चित हुआ कि ५ बजे सुबह इस महल का अग्रिम फाटक खोला जाय, जो फाटक के पास मिले उसको ही राजा बनाया जाय। खोला फाटक तो एक संन्यासी लंगोट पहिले हुए मिला। उसके हाथ पकड़कर मंत्रियों ने कहा कि चलो तुम्हें राजा बनायेंगे। साधु बोला-नहीं नहीं, हम यह आफत नहीं लेना चाहते। बड़ा आग्रह किया तो इस शर्त पर वह राजा बनने को तैयार हो गया कि हमसे राजकाज की कोई चर्चा न करना। हम बैठे भर रहेंगे। अच्छा महाराज आप से राजकाज की कोई चर्चा न करेंगे। साधु को राजदरबार में ले गए। साधु ने अपने कपड़े उतार दिए और राजवस्त्र धारण कर लिए। एक छोटी सी काठ पेटी में अपना लंगोट रख दिया। दो तीन वर्ष तक खूब राजकाज चला। इतने में एक शत्रु ने आकर उस पर आक्रमण कर दिया। अब मंत्री लोग घबड़ाए और पूछा—महाराज अब क्या करना चाहिए शत्रु तो सिर पर चढ़ आया। महाराज कहते हैं कि अच्छा हम बताते हैं—जरा वह पेटी उठावो, पेटी खोलकर लंगोट निकाल कर, राजवस्त्र फेंक कर लंगोट पहिनकर और चलते हुए कहता है कि हम राम को तो यह करना है, और तुमको जो करना हो सो तुम जानो।

ज्ञानी का शुद्ध चित्त–तो ज्ञानी जन अज्ञानी की भांति उड़कर नहीं चलते हैं। लोकव्यवहार में चाहे कोई माने, चाहे न माने, उल्टा चले, तब भी मोह किया जा रहा है। कितना ही समझाया जाय, बताया जाय, हित की बात प्रेम सहित कही जाय। मान लिया तो ठीक, न मानें लोग तो ज्ञाता रह गए। किन्तु मोह में ऐसा नहीं होता है, कितनी ही विपत्तियां आएं फिर भी परिजन की ममता त्यागी नहीं जा सकती। कितना ही नाती पोते पीटें फिर भी उनके बाबा ही तो रहेंगे, कोई बाबा कहलाना तो न मिटा देगा। ऐसी मन में ममता की आसक्ति ज्ञानी पुरूष के नहीं होती।

ज्ञान होने पर अज्ञान चेष्टा का बोध व एक उदाहरण–यह ज्ञानी सोच रहा है कि आत्मज्ञान से पहिले मुझे देह में आत्मा का भ्रम था इस कारण मेरी ऐसी चेष्टा हुई है जो आत्मा के नाते से विपरीत थी। किसी पुरूष को अंधेरे उजेले में घर के बाहर पड़ी हुई तीन चार हाथ की लम्बी रस्सी टेढ़ी मेढ़ी पड़ी हुई दिख जाय तो सांप का भ्रम होने पर उसकी कैसी चेष्टा हो जायेगी ? घबड़ाहट, चिल्लाहट। लोगों को बुलायेगा, बचाव के साधन इकट्ठे करेगा और यहाँ तो बचाव कौन करता है, सीधी लाठी वगैरह ढूँढ़ते हैं। तो सारा यत्न करेगा, चित्त में अशांति हो जायेगी ये सब भ्रम की चेष्टाएं हैं। शायद लाठी के प्रहार भी कर दे और

१०–२० लाठी लग जाने पर फिर जरा निकट जाकर देखे कि यह मरा कि नहीं मरा और उठाया तो माथा घुनता है—ओह यह तो रस्सी ही थी, भ्रम में मैंने क्या क्या चेष्टाएं कर डाली ?

ज्ञान में अज्ञान चेष्टा का निर्णय–इसी प्रकार अपने आत्मा द्वारा अधिष्ठित देह में यह मैं हूँ ऐसा भ्रम किया और पर-आत्मा द्वारा अधिष्ठित देह में यह पर है ऐसा भ्रम किया, बस इस भ्रम की नींव पर ये सारी चेष्टाएं, बोलचाल व्यवहार, मनमुटाव, पक्षपात, ईर्ष्या, घृणा, सारी की सारी विडम्बनाएं इस पर चल उठी हैं। ज्ञातापुरूष सर्वत्र इस चैतन्यस्वरूप का दर्शन करता है। वह गुणग्राही होता है, और देहों में आत्मा का भ्रम करने वाले पुरूषों को गुण से तो प्रयोजन ही नहीं, बल्कि उनमें दोषग्राहिता का स्वभाव पड़ जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी की प्रकृति–जगत में जितने पुरूष है उनमें यदि दोष है तो कोई न कोई खासा गुण भी है हर एक पुरूष में। कोई कंजूस है तो प्यारा बोलने वाला भी है, कोई परनिन्दक है तो कोई किसी के तन की सेवा करने वाला भी है। कोई दोष है कोई गुण है। पर दोषग्राही पुरूष को वहाँ दोष ही दिखता है और गुणग्राही पुरूष को गुण ही दिखते हैं। जैसे जोंक भैंस के थनों में लग जाय तो जोंक दूध नहीं पी सकती। वह खून ही पीयेंगे। और हंस मिले हुए दूध और पानी में दूध को ग्रहण कर लेगा पानी को छोड़ देगा। यह ज्ञान और अज्ञान में ऐसी प्रकृति हो जाती है।

अज्ञानचेष्टा का अवबोध व अज्ञानचेष्टा के परिहार का यत्न–ज्ञानी पुरूष यह चिंतन कर रहा है कि पूर्वकाल में, जो अनन्तकाल हो गया है, देहादिक में आत्मा का भ्रम करने से मेरी ऐसी चेष्टा हुई जैसे ठूठ में पुरूष का भ्रम हो जाय तो उस भ्रमी की चेष्टा हो जाती है। क्या चेष्टा हो जाती है ? किसी का उपकार करना, किसी का अपकार करना, किसी को अपना मानकर अपना सर्वस्व समर्पण करना, किसी को अपराधी जानकर दुःखी देखकर भी करूणा उत्पन्न न होना, ऐसी अजब चेष्टाएं मिथ्यात्व में हो जाया करती हैं। एक ही जीवन में दसों बार ऐसे उतार चढ़ाव के प्रसंग आ जाते हैं कि कभी वह इष्ट हो जाता है और कभी वह अनिष्ट हो जाता है। ऐसी चेष्टा इस देह में आत्मा का भ्रम करने से ही हो जाया करती है। ठीक है, किन्तु जब आत्मज्ञान हो जाता है तब यह पुरूष कैसा बर्ताव करने लगता है ? इस सम्बंध में आचार्यदेव कह रहे हैं।

श्लोक 22

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाऽचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रम:।।२२।।

यथार्थ ज्ञान होने पर विपरीत चेष्टा का अभाव–जैसे वही पुरूष जिसको कि स्थाणु में पुरूष का भ्रम हो गया था, कुछ और चलने पर जिज्ञासा सहित निरखने पर जैसे यह समझ आ गई कि यह तो कोरा ठूठ ही है, तो ऐसा जानकर अब उसकी वे सब विपरीत चेष्टाएं समाप्त हो जाती है, भय नहीं रहता, कुछ

नि:शंक हो जाता है। इस ही प्रकार जब देह में आत्मा का भ्रम समाप्त हो जाता है, आत्मस्वरूप में ही यह मैं आत्मा हूँ ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है तो यह भी उन सब चेष्टावों से निवृत्त हो जाता है, ज्ञानरस का स्वाद लिया करता है।

ज्ञान में अनाकुल दशा–भैया ! ज्ञान हो जाने पर इस जीवन में बड़ा अन्तर आ जाता है। आकुलता मूल में नहीं रहती, विसम्वाद की स्थिति उस ज्ञाता पुरूष के नहीं रहती। चाहे संग वह ही हो, किन्तु यथार्थ बोध हो जाने पर फिर उसकी दशा ही बदल जाती है। जैसे रस्सी में सांप का जिसे भ्रम हो जाय वह कुछ हिम्मत बनाकर निकट जाय और धीरे-धीरे समझ में आए कि यह तो सांप नहीं मालूम होता है और बढ़कर देखता है—निर्णय हुआ कि यह तो रस्सी है। रस्सी का ज्ञान होने पर भय आकुलता, अँधेरा ये सब समाप्त हो जाते है। ऐसे ही यह मैं आत्मज्ञानानन्द का पुंज हूँ। इसका कार्य ज्ञानरूप वर्तना और आनन्दरूप वर्तना है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर जो संसार के नाना कार्य भ्रमों का बोझ लादे था वह सब समाप्त हो जाता है।

ज्ञानकिरण–इस अज्ञ पुरूष पर लौकिक कर्मों का बड़ा बोझ लदा रहता है। अब यह काम करने को पड़ा है, अमुक काम अभी अधूरा ही है। इस तरह के बोझ चित्त में रहा करते हैं। पर जब ज्ञानकिरण का उदय होता है और यह आत्मा समझ लेता है कि मैं तो अपने भावरूप परिणमन के अतिरिक्त अन्य कुछ करता भी नहीं हूँ और न ही वह काम जिसे सोचा था या लोग सोचा करते हैं तो यह भी अधूरा नहीं रहता। यह तो मैं परिपूर्ण सत हूँ—ऐसा अपना परिपूर्ण स्वभाव जो देखता है उस पर से सारे बोझ हट जाते हैं। हो तो कोई बुद्धिमान विवेकी, सो जैसे मुफ्त मिले हुए धन की व्यवस्था बिना भार के की जाती है ऐसी ही चेष्टा है उनकी। जो मेरे घर में हैं, मिले हैं, ये भी मुफ्त मिले हुए की तरह हैं। हैं जड़ पुद्गल मुफ्त मिले हैं, मेरा उनसे कुछ सम्बंध नहीं है। वे मेरी व्यवस्था नहीं बना देते हैं। ज्ञान होने पर दृष्टि उत्कृष्ट हित की ओर ही जाती है।

अज्ञान में विचार–एक बड़ा सेठ था किन्तु वह अकेला ही था। एक छोटा लड़का भर था। जब सेठजी के मरने का समय आया तो सेठ ने सोचा कि इतने बड़े स्टेट की रक्षा यह बालक न कर सकेगा, सो बराबरी के चार बिरादरी भाईयों को बुलाया और उनको ट्रस्टी बना दिया, उनके नाम सब लिखा पढ़ी कर दिया। जब यह बालक बड़ा हो जाय तो इसको सारी सम्पत्ति सौंप देना। सेठ गुजर गया। बालक सड़क पर खेल रहा था। दो तीन वर्ष की अवस्था थी, अच्छे कुल का पुत्र था, अच्छे वातावरण में पला था, सुन्दर कलावान था। खेल रहा था वह बालक। एक ठग सड़क से निकला, उसे यह बालक सुहा गया और उसे उठा करके चल दिया। ठगनी से कहा कि अपने घर बालक नहीं है सो इसकी रक्षा करो। यह अपना बालक है। पल पुसकर अव वह १७, १८ वर्ष का हो गया। अब उस बालक को सही पता नहीं कि मेरा

घर कौन था और क्या सम्पदा है ? वह ठग को ही बाप समझता है और ठगनी को मां।

ज्ञान में प्रकाश–एक बार वही बालक शहर से निकला, तो एक ट्रस्टी ने कुछ पहिचान लिया। ट्रस्टी ने कहा कि ऐ बालक ! हम लोग कब तक तुम्हारी जायदाद रखेंगे, तुम अपनी जायदाद ले लो। (कोई यह न सोच बैठे कि कहीं ऐसे ट्रस्टी हम न हुए)। दूसरा ट्रस्टी भी देखता है—कहता है—ऐ बालक तुम्हारी जायदाद हम कब तक रक्खेंगे, अब तुम अपनी जायदाद ले लो। इसी तरह से तीसरे और चौथे ने कहा। तो बालक सोचता है कि ये दे ही तो रहे हैं कुछ लिए तो नहीं लेते। सो सोचकर उसने कहा—अच्छा हम १०–५ दिन के बाद आपसे बात करेंगे। अब जंगल में अपनी झौंपड़ी में वह सोचता है कि मामला क्या है ? अरे मेरा बाप यह है, मेरी मां यह है और यह खेतीबाड़ी मेरी जायदाद है और वे बताते हैं दस बीस दुकानें, अमुक, अमुक। सो वह चिंतातुर था। जिज्ञासा का समाधान नहीं था, सो वह ठगनी के पैरों में पड़कर नम्र शब्दों में बोला कि मां बतावो मैं किसका बालक हूँ ? उसे तुरन्त कह आया उस बालक की सरलता और मुद्रा देखकर कि बेटा तू अमुक सेठ का बालक है। तू खेल रहा था सो ये तुम्हारे पिता जी तुम्हें उठा लाये, पाला पोसा। इतनी बात सुनते ही उसके यह निर्णय हो गया कि मैं अमुक शहर के अमुक सेठ का लड़का हूँ, अब इस निर्णय को कौन बदले ? फिर भी जब तक उस झौंपड़ी में रह रहा है क्या उस ठग को ठग कहकर पुकारेगा, क्या उस ठगनी को ठगनी कहकर पुकारेगा ? नहीं। ठगनी को मां ही कहेगा, ठग को पिता ही कहेगा और खेतीबाड़ी को यदि जानवर बरबाद करने को घुस जाय तो उसे भी वह बाहर निकालेगा। सब कुछ करेगा, पर अन्दर में उसके पूरा ज्ञान है कि मैं तो अमुक सेठ का लड़का हूँ।

यथार्थ ज्ञान और व्यवहार–ऐसे ही यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इस गृहस्थ को भी व्यवहार करना पड़ रहा है सब कुछ, पर जान रहा है अन्तर में सब सत्य बात। मेरा वैभव तो मेरा गुणपुंज है, मेरा पिता तो यह ही मेरा सत् स्वरूप है, सब कुछ समझ रहा है, फिर भी लोकव्यवहार के माता पिता वैभव को क्या गालियां देकर पुकारेगा ? तुम धोखे से भरे हो, मायारूप हो, असार हो। क्या ऐसा कहेगा ? ऐसा न कहेगा। वह मां को मां ही कहेगा, पिता को पिता ही कहेगा, धन वैभव का भी संचय करेगा, पर दृष्टि उसकी बदली हुई है। सो जब तक भ्रम था तब तक अन्य प्रकार क चेष्टाएं थीं, जब भ्रम हट जाता है तो विपरीत चेष्टाएं दूर हो जाती हैं और आत्मतत्त्व के नाते से उसकी चेष्टाएं होने लगती हैं। ओह मैंने देहादिक में आत्मा का भ्रम करके ऐसी भ्रमपूर्ण चेष्टाएं कीं। जैसे कि कोई ठूठ को पुरूष जानकर, रस्सी को सांप जानकर उद्विग्न होकर नाना चेष्टाएं किया करता है। ऐसा यह ज्ञानी आत्मज्ञान होने पर पूर्व की अवस्थावों का ज्ञाता दृष्टा बन रहा है।

अज्ञ जन्तु की विडम्बनायें–इस आत्मा ने स्वपर के भेदविज्ञान बिना बाह्यतत्त्वों को अपनाकर कैसे कैसे भव धारण किये और उनमें कैसी विडम्बनाएं सहीं, सो कुछ साक्षात और कुछ सिद्धान्तग्रन्थों से जान लीजिये। इस जीव का आदि निवास साधारण वनस्पतिकाय रहा। जहाँ एक श्वास में १८ बार जन्म मरण किया। सुयोग से उस देह कुल से निकला तो पृथ्वी, पानी, आग, हवा और वनस्पतिकाय इनमें जन्म लिया, सो

आप सब देख ही रहे हैं। ये एकेन्द्रिय जीव हमारी ही तरह चैतन्यशक्ति वाले हैं और सुख दुःख के भोगने वाले हैं। इनके केवल एक ही इन्द्रिय है। इस कारण वे कुछ भी हलन चलन करके खुद को मना नहीं कर पाते। इस पृथ्वी के नीचे जितनी भी धातुयें हैं मिट्टी पत्थर आदिक हैं वे सब जीव हैं। इस मनुष्य ने अपने प्रयोजन से इस जमीन को खोदा और भीतर के पत्थरों को फोड़कर सुरंगे बनाईं और भी किस-किस तरह उन पृथ्वीकायिक जीवों का घात हुआ। वे सब वेदनाएं हम आप जीवों ने सही।

असावधानी का फल–आप मनुष्यभव में हैं, अपनी गत वेदनाओं का कुछ स्मरण नहीं करते हैं। पुण्योदय से जो समागम मिला है उस समागम में मस्त होते चले जा रहे हैं। कुछ ही दिन बाद सर्वसमागम मिटेंगे, परभव में यहाँ का क्या साथ जायेगा इसका भी तो ख्याल करो। यह जो करनी है, जो भाव बनाया है भला अथवा बुरा, उनका ही फल अगले भव में नजर आयेगा।

जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के क्लेश–यह जीव कभी जलकायिक हुआ। जल जो पीने में आता है वह स्वयं एकेन्द्रिय जीव है। उसमें रहने वाले कीड़ों की बात नहीं कह रहे हैं। वह एकेन्द्रिय जल ताड़ा गया, रोका गया, तपाया गया, धोती चद्दरों से पिछाड़ा गया, वहाँ भी कितने कष्ट इस जीव ने सहे ? अग्निकायिक हुआ तो लोग अग्नि को पानी से बुझा देते हैं अथवा तवे से बंद करके उसके प्राण नष्ट कर देते हैं। कई तरह से इस अग्नि का भी विध्वंस हुआ। वायुकायिक हुआ। यह अपनी चर्चा चल रही है। हम पहिले कैसी-कैसी योनी में और देह में पहुँचते रहे। हवा हुए तो रबड़ों में रोके गए अथवा जब चाहे पंखों से ताड़े गए। वहाँ भी अनेक कष्ट सहे। हरी वनस्पति की तो बात ही क्या बताएं ? ये पेड़ पौधे फल फूल आदि सब एकेन्द्रिय जीव हैं। इनको तोड़ लिया, छेद डाला, भेद डाला, पका दिया, कितनी ही स्थितियां बनती हैं।

दो इन्द्रिय व तीन इन्द्रिय जीव के क्लेश–कदाचित् स्थावरों से निकला, दो इन्द्रिय जीव बना केचुवा, लट, जोक, सीप का कीड़ा, कौड़ी का कीड़ा आदिक दो इन्द्रिय जीव हुआ तो उनके दुःख का क्या ठिकाना ? ढीमर लोग मछली फांसने के लिए कांटे में केचुवे को पिरो देते हैं, जल में डाल देते हैं, मछलियां उन्हें खाती हैं, अथवा चलते फिरते मुसाफिर, कोई बिरले ही सत्पुरूष उन जीवों पर दया करते हैं, कितने ही लोग जानबूझकर जूते की नालों से मसलकर रौद्र आशय करके मौज मानते हैं। तीन इन्द्रिय जीव हुआ तो उसके दुःख का क्या ठिकाना ? खटमल होते हैं खाटों में तो लोग उन पर गरम पानी डालकर मार देते हैं, धूप में खाट से गिराकर तपी हुई धूल में उन्हें झुलसा देते हैं। अथवा मिट्टी का तेल सन्दूक या अलमारी आदि में डालकर उन खटमलों को नष्ट कर देते हैं। ऐसी तीनइन्द्रिय कीड़ा मकौड़ों की हालत होती है। एक निज ब्रह्मस्वरूप के परिचय बिना बाह्यपदार्थों में ममता होने के कारण ऐसे-ऐसे भव इस जीव को धारण करने पड़े।

चौइन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों के क्लेश–कदाचित् तीन इन्द्रिय जीव से और ऊँचा उद्धार हुआ तो चौइन्द्रिय

जीव हो गया। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, भँवरा, ततैया आदि चौइन्द्रिय जीव हैं। लोग ततैया के घरों को आग लगाकर जला देते हैं, ततैया जल जाती हैं, बच्चे किलबिलाकर मर जाते हैं। टिड्डी दलों को नष्ट करने की कितनी ही औषधियां बनाई गई है। मच्छरों को मारने की कितनी ही औषधियां है। यह जीव चौइन्द्रिय से निकलकर पंचेन्द्रिय हुआ, तिर्यंच हुआ, तो वहाँ के कष्ट देखो गाय बैल बूढ़े हो जाते हैं तब उनकी कौन परवाह करता है ? गधे, कुत्ते, सूकर इनकी कौन परवाह करता है ? सूकरों को तो लोग खड़े ही नष्ट कर देते हैं और कोई तो उनके पैर बांधकर जिन्दा ही बड़ी भट्टी में डाल देते हैं। मुर्गा मुर्गियों की तो कथा सुनी ही होगी। पंचेन्द्रिय जीव का भव पाया तो ये स्थितियां हुई।

आप बीती कहानी–भैया ! कहां तक दर्द भरी कहानी सुनाई जाय जब हम दूसरों को ऐसा हुआ करता है यों देखते है तो वह कहानी सुन ली जाती है और जब यह ख्याल होता है कि आखिर ऐसा ही भव हमने भी तो धारण किया और अब भी क्या हुआ, भाव न सुधरे तो ऐसा ही भव हमें भी तो धारण करना पड़ेगा। ओह बड़ा विषाद होता है। आज इतना श्रेष्ठ मन पाया, अपने मन की बात दूसरों को बता सकते हैं, दूसरों के मन की बात हम समझ सकते हैं और बड़े-बड़े तत्त्वज्ञान की बातें समझने के काबिल है, ऐसी ऊंची स्थिति पाकर भी विषयों की खाज खुजाने में ही यह अमूल्य समय गुजारा तो बतलावो अब कौनसा समय आयेगा जिसमें संकटों से छूटने का मौका मिले। यह सब उस अज्ञान का परिणाम है जिस अज्ञान में मनुष्य फूले नहीं समाते हैं। मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा वैभव, मेरा ऐश्वर्य, ओह कितना अद्भुत है, देख-देखकर फूले नहीं समाते हैं। ऐसा जो परिणाम है यह अज्ञान अंधेरे का परिणाम है। ऐसी मोह ममता में निज ब्रह्मस्वरूप का क्या परिचय हो सकता है और अपने आपके स्वरूप की यदि दृष्टि नहीं होती है तो आकुलता ही बसी रहती है, वह ब्रह्मस्वरूप क्या है, वह अंतस्तत्त्व क्या है ? इस बात का वर्णन करने के लिए आचार्यदेव अगला श्लोक कह रहे हैं।

श्लोक 23

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु:।।२३।।

आत्मतत्त्व–मैं जो हूँ वह किसी इन्द्रिय द्वारा जानने में न आ सकने वाला हूँ। इस इन्द्रिय के बहुत भीतर की जानने की तो बात तो क्या कहें, ये इन्द्रियां स्वयं को भी नहीं जान पातीं। ये आंखें आंखों को भी नहीं जान पातीं। यह रसना रसना के रस को भी नहीं जान पाती। फिर यह अन्तर की बात का तो पता क्या लगायें ? इनकी बहिर्भूत वृत्ति है। यह मैं आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप के द्वारा ही सम्वेदन में आ सकने वाला हूँ। जिस रूप से मैं अपने आपको अनुभव में लेता हूँ उस रूप का परिचय क्या बताया जाय ? लेकिन मोही जीव कहा करते हैं कि जगत के प्राणी कोई स्त्री है, कोई पुरूष है, कोई नपुंसक है पर यह मैं

आत्मतत्त्व इन तीनों बातों से परे हूँ।

आत्मा की पुरूष स्त्री नपुंसक पर्याय से रहितता–जो पुरूष, पुरूषशरीर में रहकर अपने को पुरूष, मर्द, मनुष्य मानते हैं वे अभी मोह में पड़े हुए हैं। मैं पुरूष नहीं हूँ। जो जीव स्त्री शरीर में रहकर अपने को स्त्री रूप में मानते हैं उनका आत्मा अभी मोह में पड़ा हुआ है। यह आत्मा स्त्री नहीं है। यों ही नपुंसक देह भी बहुत हैं। लगता है ऐसा कि नपुंसक तो थोड़े हुआ करते हैं क्योंकि मनुष्यों में दृष्टि डाल रहे हैं ना, या पशु पक्षियों पर दृष्टि डाल रहे हैं, तो नपुंसक कहो, हिजड़ा कहो कितने इस जगत में मिलते हैं? पशु और पक्षियों में तो कभी देखने को मिले ही नहीं। इससे कुछ ऐसा सोच रक्खा है कि नपुंसक थोड़े होते हैं। पर नपुंसक अनन्तानन्त हैं, पुरूष और स्त्री तो असंख्यात ही हैं पर नपुंसकों का अंत नहीं आ सकता है इतने भरे पड़े हुए हैं विश्व में। जितने एकेन्द्रिय जीव हैं, पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, हवा है, पेड़ हैं, निगोद हैं, ये क्या पुरूष हैं अथवा स्त्री हैं ? ये सब नपुंसक हैं। और वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं। दो इन्द्रिय सब नपुंसक, तीन इन्द्रिय तथा चारइन्द्रिय नपुंसक, पंचेन्द्रिय में भी नारकी चुकता नपुंसक और तिर्यंचों में और कुछ मनुष्यों में नपुंसक होते हैं। ऐसे इस नपुंसकदेह को धारण करने वाला यह जीव अपने को नपुंसकरूप अनुभव करता है, किन्तु यह आत्मा जैसे न पुरूष है, न स्त्री है, ऐसे नपुंसक भी नहीं है।

आत्मदया का यत्न–सब उपदेशों में प्रमुख बात यह है कि थोड़ी अपने आप पर दया तो कीजिए। विषयों में, कषायों में, विकल्पों में, पर की याद में, चिंता में, शल्यों में बहुत बहुत अपने प्रभु को सताया, अब कुछ करूणा करके इतना तो देखो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मुझमें तो शरीर भी नहीं है, मैं शरीर से रहित हूँ। जैसे मकान में रहता हुआ पुरूष क्या अपने को मकानमय मान लेता है ? नहीं। अरे उसका तो यह विश्वास है कि मैं मकान से अलग हूँ। इस प्रकार ज्ञानी पुरूष जिस देह में रहता है, क्या अपने को देहरूप मानने लगता है ? मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं लम्बा हूँ, ठिगना हूँ, क्या इन रूपों में ज्ञानी अपने को मानता है ? देह में बसता हुआ भी देह से मैं अत्यन्त जुदा हूँ, यों ज्ञानी देखता है और उसके इस निरखने के क्षण में उसे देह का भान भी नहीं रहता।

आत्मपरिचय का प्रसाद–भैया ! बहुत-बहुत बसे अब तक परतत्त्वों में, अब जरा सर्वविकल्पों को तोड़कर एक बार भी इस अपने सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का अनुभव तो करिये। एक सेकेण्ड की भी यह कमाई अनन्तकाल तक के लिए संकटों से दूर कर देगी और आनन्दमय बना देगी। जब कि रात दिन के किए जाने वाले परपदार्थविषयक श्रम इस जीव को केवल क्लेश के ही कारण हुए। मैं क्या हूँ-जब तब इसका निर्णय न होगा तब तक धर्म किया ही नहीं जा सकता। यों तो चन्द्र सूर्य के ग्रहण के समय में छोटे लोग भी, भिखारी जन भी लोगों को उपदेश दे जाते हैं-धर्म करो, धर्म करो—उनकी दृष्टि में पाव डेढ़ पाव अनाज का दान करना ही धर्म है। धर्म का स्वरूप कहीं बाहर रक्खा है क्या ? धर्म किसी चीज के लेनदेन में

रक्खा है क्या ? धर्ममय आत्मतत्त्व के जान लेने पर बाह्यपरिग्रहों से ममता हट जाती है और कोई सामने कार्य होने पर, धार्मिक प्रसंग आने पर अथवा कोई परोपकार की बात आने पर त्याग करते हुए विलम्ब नहीं लगता, पर धर्म में उस परपदार्थ को छोड़ना नहीं है, किन्तु उस परपदार्थ में ममता का न होना धर्म है। जिसके प्रताप से परपदार्थों का त्याग बन गया है।

आत्मानुभव धर्म–धर्म आत्मा का स्वरूप है। आत्मा सब एक प्रकार के हैं। जब देह स्वयं आत्मा का नहीं है तब उन आत्मावों में ऐसा भेदभाव निरखना जाति के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर, गोष्ठियों के नाम पर तो ये भेदभाव की निरखन हैं, आत्मदर्शन में बाधा देने वाली कड़ी दीवारें हैं। हम अपने आपको उस रूप अनुभव करें जिस रूप अनुभव करने में व्यक्ति भेददृष्टि में, नहीं रहता न अपना पता रहता है, न अन्य जीव भी हैं, इस प्रकार पता रहता है। सर्व में घुलमिलकर केवल चैतन्यस्वरूप मात्र का अनुभव होता है। मैं क्या हूँ—इसका निर्णय करने में आपका वर्षों का समय गुजर जाय तो भी पहिले निर्णय कर लीजिए। धर्मपालन की धुनि जिस रूप में लोग कर रहे हैं दया करके इसे स्थगित कर दीजिए और पहिले 'मैं क्या हूँ' इसका निर्णय बना लीजिए। प्रथम तो इसके यथार्थ निर्णय में ही धर्म मिलेगा। और फिर धर्म की प्रगति के लिए जो कुछ कार्य करना होता होगा, वह सब क्षण में हो जायेगा।

धर्मतत्त्व के स्वत: निर्णय का उपाय–कोई पुरूष यदि कुछ इस विसम्वाद में पड़ गया हो कि मैं कहां जाऊं, सभी जगत में लोग अपनी-अपनी गा रहे हैं—यह धर्म है, यों करो, यों करो, किसकी मानें ? ऐसी स्थिति में एक काम करना आवश्यक है। क्या ? कि तुम किसी की मत मानो, जिस कुल जिस मजहब में उत्पन्न हुए हो, एक बार उसका भी सबकी तरह एक निषेध कोटि में शामिल कर दो। यह मैं आत्मा ज्ञानमय हूँ ना, जाननहार हूँ ना, जानन की इसकी प्रकृति है ना, फिर मुझे क्या जरूरत है कि मैं कोई सहारा तककर उस सहारे की रस्सी से ही धर्म का निर्णय करने जाऊं ? मुझे ज्ञात हो गया है कि मेरे को मेरे से अतिरिक्त अन्य जितने भी चेतन अचेतन परिग्रह हैं, पदार्थ हैं ये मेरे नहीं है। इसका निर्णय तो प्राय: सबके है। एक यह पक्का विचार बना लीजिए किसी क्षण १०–५ सेकेण्ड के लिए कि मुझे किसी भी अन्य पदार्थ को अपने चित्त में नहीं बसाना है, और मेरे ही घट-घट में बसा हुआ प्रभु मुझे अपने आप जो निर्णय देगा बस वह तो मुझे मान्य है और किस-किस की बात का सहारा तकूं ? यदि सच्चाई के साथ सर्व बाह्यपदार्थों को अपने चित्त से अलग कर दिया जाय और इस सत्य के आग्रह से कि अपने आप मेरे घट में जो दर्शन होगा वह मुझे प्रमाण है। मुझे नहीं कुछ सोचना है, नहीं कुछ बोलना है, नहीं कुछ चेष्टा करना है। मैं तो सर्वविकल्पों को भुलाकर लो यहाँ बैठा हूँ। ऐसी स्थिति हो कि किसी भी परपदार्थ का संकल्प और विकल्प न रहे, सच जानो अन्तर के घट में विराजमान ईश्वर सही रूप में साक्षात दर्शन देगा। और तब यह परिणाम हो जायेगा कि ओह इस प्रकार का विकल्प बनाना यह है धर्म।

विलीन संकल्पविकल्पजालता–धर्म की स्थिति में मुझे अनन्त आनन्द प्राप्त हुआ। मैं जैसा चैतन्यस्वरूप से हूँ और मैं जैसा अपने आप अपने में अपनी सी साधना से अनुभव करता हूँ वह मैं आत्मतत्त्व न मैं पुरूष

हूँ, न स्त्री हूँ और न नपुंसक हूँ और इतना ही नहीं, मैं बहुत भी नहीं हूँ। मैं दो हूँ क्या ?दो भी मैं क्या-क्या मानूं ? एक मैं हूँ और एक क्या इस मुझ में किसी द्वैत का प्रवेश नहीं है। यह मैं केवल हूँ। अच्छा तो मैं दो न सही तो एक तो होऊंगा। अरे यह मैं एक भी नहीं हूँ। मैं तो हूँ एक का बुदबुदा, एक का तरंग। भेदभाव यहाँ नहीं उठ सकता। अनेक की दृष्टि आशय में रक्खे तो एक का देखना बन सकता है। किसी टोकनी में एक ही आम रक्खा हो और किसी से कहें कि जरा देखना तो उस टोकरे में कितने आम पड़े हैं ? तो देखने वाला कहता है कि उसमें तो एक आम है, उसने कैसा जाना कि यह एक आम है। वह जानता है कि दो भी हुआ करते हैं, ४ भी होते, ५ भी होते, ५० भी होते, अनेक भी होते। आम अनेक नहीं हैं इसलिए केवल वह एक है। यह मैं एक हूँ ऐसा संकल्प विकल्प जाल भी विलीन हो जाता है ऐसे शुद्ध नय में यह आत्मस्वरूप अनुभूत होता है। यह मैं न बहुत हूँ, न दो हूँ न एक हूँ, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूँ।

धर्म की सुगम कला–भैया ! कहां तो ऐसा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप और कहां रातदिन यह बसाये हुए कि मैं तीन चार बच्चों वाला हूँ। ओह कितना अन्तर है यथार्थ ज्ञान में व अज्ञान में ? प्रकाश में और अंधेरे में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानी की वृत्ति में है। हे श्रेष्ठ मन वाले भव्य आत्मन् ! जरा सी सुगम कला है, आंखें बंद किया, इन्द्रियों का व्यापार रोका, किसी पर का चिंतन न किया, क्षण भर विश्राम से बैठ गए कि उस आनन्द को भराता हुआ यह प्रभु अन्तरंग में दर्शन देता है पर यह बात तभी सम्भव है जब हम मोह ममता से कुछ गम खायें।

यथार्थस्वरूप के जानने की प्रेरणा–जीव आनन्दमय है फिर भी व्यर्थ की परेशानी लाद रक्खी है। है यह अकेला परिपूर्ण स्वतंत्र सारभूत उत्कृष्ट कृतार्थ लेकिन यह अपने स्वरूप को भूला हुआ है, जो अनहोनी बात है उसे होनी में शामिल कर रहा है। कोई चेतन अचेतन पदार्थ मेरा नहीं हो सकता। भगवान् भी नहीं जान रहे हैं कि यह घर अमुक भक्त का, चंद का, दास का है, प्रसाद का है किन्तु यह मोही छाती पीटकर कहता है कि यह घर मेरा है। यह इस जानकारी में भगवान से भी बढ़ा बनने की कोशिश करता है। भगवान् तो सीधी सादी बात, पूरी-पूरी बात जानता है। धोखा, दगा, छल, कपट, अलाबला वह भगवान् नहीं जानता, पर यह मोही जीव अनहोनी को भी होनी करने का यत्न करता है। सोच लो जो बहुत बढ़कर चढ़ेगा वह ऐसा गिरेगा कि चिरकाल तक भी उसका उत्थान नहीं हो सकता। यह मैं चितस्वरूप मात्र हूँ, न पुरूष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, देह से भिन्न ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानमात्र हूँ यह बार-बार उपयोग सहित भावना चले तो इस शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है।

मैं आत्मतत्त्व क्या हूं–इस सम्बंध में गत श्लोक में वर्णन आया, उस ही सम्बंध में यहाँ भी बता रहे है कि वह आत्मतत्त्व जो कि हमारे आपके लिए उपादेयभूत है और क्या-क्या विशेषताएं रखता है ?

श्लोक 24

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थित: पुन:।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।२४।।

मैं क्या हूं–जिस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति न होने पर मैं मोह निद्रा में सो जाया करता हूँ, और जिस शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति होने पर मैं जाग जाया करता हूँ, ऐसे अतिन्द्रिय अपने आपके द्वारा ही ज्ञान में आने योग्य मैं आत्मतत्त्व हूँ। अनादिकाल से बराबर इस जगत के प्राणियों पर अज्ञान अंधकार छाया चला आ रहा है जिसमें इसने अपने आपके स्वरूप की प्राप्ति नहीं की। जैसे जब घोर अंधियारा हो जाता है तो अपने ही हाथ पैर अंग अपने को नहीं दिखते, फिर यह तो आत्मा का अँधेरा है जिसमें आत्मस्वरूप कैसे दिखेगा। जब नहीं दिखा आत्मतत्त्व तो यह मोह निद्रा में सो गया, अर्थात पदार्थों का यथार्थज्ञान न हो सका, हित के मार्ग में यह न चल सका, बेहोश खोया पड़ा है और जब इस जीव को अपने सहज ज्ञानस्वरूप की याद होती है, अनुभव होता है तब यह जागृत हो जाता है, सावधान हो जाता है। वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानने लगता है।

सुप्तदशा में बंध–भैया ! आप लोग सोचते होंगे कि सोना है तो अच्छी चीज, मगर सो जाय तो फिर सो ही जाय जिन्दगी भर को तो फिर अच्छा रहेगा (हंसी) और यह क्या कि ६ घंटे को नींद आयी, फिर जग गए। ऐसा सोना अच्छा होगा क्या ? कोई तो यह जानते होंगे कि सो गए, वहाँ कुछ काम नहीं करते तो कर्मबंध कम होता होगा। सोई हुई अवस्था में भीतर में जो संस्कार बसे हैं वे सब संस्कार बेलगाम भीतर ऊधम मचाते हैं। पर बेहोशी है इसलिए वह अनुभव में नहीं आते और वहाँ बंध बराबर चलता रहता है।

आत्मा की ज्ञानानन्दस्वरूपता–जैनसिद्धान्त में आत्मा को ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप माना है। जिन लोगों ने इस ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप ही माना है अथवा इस ब्रह्म को आनन्दस्वरूप ही माना है, जरा उस मन्तव्य में कल्पना तो कीजिए कि आनन्द बिना, ज्ञान क्या महत्त्व रखता है और ज्ञान बिना आनन्द क्या स्वरूप रखता है ? ज्ञान न हो और आनन्द ही आनन्द है वह आनन्द कैसा ? ज्ञान को छोड़कर आनन्द नहीं रहता है और आनन्द को छोड़कर ज्ञान नहीं रहता। ज्ञानानन्दस्वरूप एक साथ एक आधार में अमूर्त भावरूप शाश्वत रहा करता है। इसको लौकिक भाषा में कहा जाय तो आत्मा का जगमग स्वरूप है। आज तो बड़ा जगमग हो रहा है। जग के बिना मग नहीं होता और मग के बिना जग नहीं होता। जगमग एक साथ चलता है। जग मायने ज्ञान और मग मायने आनन्द। मग्न हो गए, छक गए।

आत्मा का जगमगस्वरूप–जैसे बिजली या दीपक अपने प्रकाश का काम करता है तो वहाँ जगमग दोनों चलते हैं। लोग बोलते भी हैं कि यह दीपक जगमगा रहा है। उस जगमग का अर्थ है कि यह दीपक अपने

में समाया हुआ रहता और बाहर में उजेला देता हुआ रहता है। इसमें दोनों काम चल रहे हैं। कभी-कभी तो यह बात समझ में भी आती है कि देखो अब यह दीपक अपनी ओर सिकुड़ा और अब यह दीपक बाहर में प्रकाश फैलाने के लिए हुआ। खूब सूक्ष्म दृष्टि करके देखो तो दीपक में जगमग दोनों बातें पायी जाती हैं—इसी तरह आत्मा में जगमग दोनों बातें हैं—ज्ञान और आनन्द। प्रभु का स्वरूप जब बखानते है तो कहते हैं ना—सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन। प्रभु सकल ज्ञेय के ज्ञायक हैं, यह तो है जग का स्वरूप और अपने आनन्दरस में लीन है यह है मग का स्वरूप। ऐसा जगमग स्वरूप प्रभु अपना विकास बनाए हुए है। इस आत्मतत्त्व का यह स्वभाव है।

आत्मपरिचय बिना मुग्ध बुद्धि–जगमगरूप चैतन्यचमत्कारमात्र अंत:चकचकायमान प्रकाशमय आत्मतत्त्व का जब परिचय नहीं होता तो यह प्राणी मोह नींद में ज्ञेयासक्त हो रहा है। यह मेरा है यह फलां का है, यह बड़ा है, इसकी रक्षा करना है, उसमें बड़प्पन मानते हैं। है कुछ नहीं, जंजाल बढ़ गए। विकल्पों में पड़ा है, तो क्या यह कम संकट माना जायेगा ? सोया हुआ है, अपना चेतन ही है, परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मतत्त्व हूँ—ऐसा उसे स्मरण भी नहीं है। जिसके अभाव में यह आत्मा सो जाता है अर्थात बेखबर हो जाता है वह मैं आत्मतत्त्व हूँ और जिसकी दृष्टि होने पर यह आत्मा जग जाता है, सावधान हो जाता है वह मैं आत्मतत्त्व हूँ।

आत्मा की अतीन्द्रियता—यह मैं आत्मतत्त्व अतिन्द्रिय हूँ, इसमें इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात भी नहीं होता। भावेन्द्रियरूप खण्डज्ञान भी इसमें नहीं है। यह मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ, अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ। इस आत्मतत्त्व के बताने में बड़ी हैरानी होती है क्योंकि यह अनिर्देश्य है। इन्द्रिय से जान ली जाने वाली बात हो तो कुछ जोर चलावें कि जान जायें इसे। पर यह आत्मतत्त्व तो अनिर्देश्य है, किसी भी उपाय से निर्देश में नहीं आ सकता।

इन्द्रियज नीयत ज्ञान—कोई कहे आग गरम है। अजी हम नहीं मानते, आग तो ठंडी है, पानी भी ठंडा होता है, वह भी पुद्गल है, आग भी पुद्गल है, वह भी ठंडी होती है। अजी नहीं, देखो वह रक्खी है आग, वह तो गरम है। हम नहीं मानते। तब क्या करो कि ज्यादा झगड़ा उससे न मचावो, चिमटे में आग पकड़ो और उस निषेधक का हाथ खोलकर धर दो। वह समझ जायगा—अरे ! रे रे यह तो गरम है। ऐसी ही रसना की बात है, अमुक चीज कड़ूवी है, अजी कड़ुवी नहीं है, खिलाना नहीं चाहते इसलिए बता रहे हो कि कड़ुवी है, अरे ! तो जीभ पर धर दो, अभी कह देगा कि यह बड़ी कड़ुवी है। तो इन्द्रिय से परखी जाने वाली कोई बात हो तो उसे जोर देकर समझाया जाय।

इन्द्रियज ज्ञान व अतिन्द्रिय ज्ञान में अन्तर–भैया ! जैसा हम जानते हैं वैसा भगवान नहीं जानते और जैसा भगवान जानते वैसा हम नहीं जानते। तो हमारा जानना सच्चा कि भगवान का जानना सच्चा, पर चित्त में यह बात बैठी है कि जो हम जानते हैं सो ही सच है। यह खण्डज्ञान है, पर्यायज्ञान है, मायारूप ज्ञान है, यह सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है। प्रभु इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता। यह आत्मतत्त्व अनिर्देश्य है। इन्द्रिय

की बात क्या कही जाय ? झूठ भी हो सकती है। लोग कानों सुनी बात को झूठ बताते हैं। अजी यह कानों सुनी या आंखों देखी बात है ? हमने तो कानों सुनी है, अरे ! तो इसका क्या विश्वास ? आंखों देखा हो तो बतावो। तो कानों सुनी बात को लोग झूठ मानते हैं और आंखों देखी बात को लोग सच मानते हैं। पर कोई-कोई बात आंखों देखी भी तो झूठ हो सकती है। अच्छा बतावो आसमान में जो तारे दिखते हैं वे कितने बड़े हैं ? तो यही बतावेंगे कि जो कांच की गोलियां होती हैं ना खेलने की उससे भी छोटे, किन्तु हैं वे कम से कम तीन कोस के। ज्यादा के कितने ही हों।

चाक्षुषज्ञान से भी असत्यता की संभावना–एक कथानक है। राजा का नौकर राजा का पलंग सजाता था, बड़ा कोमल स्प्रिंगदार था और उस पर गद्दा पड़ा था। बड़ा कोमल गद्दा था। एक दिन सोचा कि इस पर राजा लेटता है, मैं भी तो जरा दो मिनट को देख लूं, कैसा गुदगुदा है, सो वह नौकर चादर तानकर दो मिनट को लेटा कि उसको नींद आ गयी। अब रानी आयी, सो जाना कि रोज की तरह राजा हैं, सो वह भी चादर तानकर लेट गयी। दोनों को नींद आ गयी। राजा आया तो देखा कि यह क्या मामला है ?सोचा कि दोनों का सिर उड़ा दूं। ध्यान आया कि किसी सन्त ने बताया था कि कानों सुनी भी झूठ हो सकती है, आंखों देखी भी झूठ हो सकती है। तो पहिले रानी को जगाया। सो यह मामला देखकर रानी बड़े अचरज में पड़ गयी कि यह मामला क्या है ? मैं तो जानती थी कि आप हैं। और जब नौकर को उठाया तो बेचारा डर के मारे कांपे। उसे यह लगा कि मैं राजा के पलंग पर सो गया। पलंग पर सोने का मैंने बड़ा अपराध किया। सच बात जानने पर राजा समझ गया कि ठीक है।

युक्तिमत् ज्ञान और अनुभव में विशेषता–अच्छा तो युक्ति पर उतरी हुई बात सही होगी क्या ? कानून में आयी हुई बात सही होगी क्या ? तो कानून की बात भी झूठ हो सकती है। राजा के पास दो सौतों का न्याय आया, एक के लड़का था और एक के न था। उसने दावा कर दिया कि यह लड़का मेरा हैं। वकील दोनों जगह के आए। युक्ति बताई किन्तु पति की सम्पत्ति पर स्त्री को पूरा अधिकार होता है कि नहीं ? दोनों का होता है, तो यह लड़का पिता का भी है, इसका भी तो है। तो घर, धन वैभव, सब पर स्त्री का अधिकार होता है या नहीं ? होता है ठीक है। अब राजा सोच में पड़ गया कि क्या न्याय करें ? लड़का तो एक ही का होगा। उसे युक्ति समझ में आयी। उसने शस्त्रधारी पहरेदारों को बुलाया, और कहा कि देखो यह लड़का इस स्त्री का भी है और इस स्त्री का भी है सो इस लड़के को ठीक बराबर के दो हिस्से करो। एक टुकड़ा इसे दे दो और एक टुकड़ा इसे दे दो। तो जिसका लड़का था वह कहती है—महाराज मेरा लड़का नहीं है, यह तो इसका ही है, पूरा का पूरा इसको दे दो। और जिसका लड़का नहीं था, वह खुश हो रही थी कि आज अच्छा न्याय बन गया, मरने दो सुसरे को। तो यहाँ कानून ने काम नहीं दिया, यहाँ तो अनुभव ने काम दिया।

आत्मा की स्वसंवेद्यता—राजा ने निर्णय दिया कि जो मना करती है उसका लड़का है, उसे दिला दिया। तो इन्द्रियों द्वारा जानी हुई बात भी यथार्थ नहीं होती, और प्रभु तो जानता ही नहीं है इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य चीजों को, क्योंकि वे सत् स्वरूप नहीं हैं, मायारूप है। वह असत् को नहीं जानता। सो ऐसा ही यह मैं आत्मतत्त्व अनिर्देश्य हूँ और अपने आपके ज्ञान द्वारा अपने ही ज्ञान में सम्वेदन करने योग्य हूँ, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूँ, जिसकी सुध आने पर अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प दोनों प्रकार के ऊधम छूट जाते हैं और आनन्द का अनुभव होता है।

स्वसम्वेदन में व्यक्त आत्मतत्त्व–यह मैं आत्मतत्त्व अतिन्द्रिय हूँ, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं हूँ, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से रहित हूँ और इसी कारण अनिर्देश्य हूँ, किसी चिन्ह के द्वारा मैं निर्देश किया जाने योग्य नहीं हूँ। ऐसे वर्णन को सुनकर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि तब क्या मैं किसी प्रकार ज्ञान में आ नहीं सकता ? इसका समाधान स्वसम्वेद्य शब्द में दिया गया है। मैं आत्मा ज्ञानमय हूँ और ज्ञान का ही काम करता हूँ और इस ज्ञानमय निज को ही जानना है तो इस ज्ञानस्वरूप को जानने का साधन अन्य तत्त्व नहीं हो सकता है। मैं अपने आपके ही द्वारा स्वसम्वेदन किया जाने योग्य हूँ। ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व गुप्त अंत:प्रकाशमान हूँ। जिसने देखा उसको व्यक्त और अज्ञानी को अव्यक्त, ऐसा स्वरूपास्तित्त्व मात्र चित् स्वरूप हूँ। यहाँ तक आत्मस्वरूप का वर्णन बहुत कुछ किया गया है। इसके पश्चात् अब यह बतला रहे हैं कि आत्मस्वरूप का जो अनुभव कर लेता है ऐसे आत्मा में रागद्वेषादिक दोष नहीं रहते और इसी कारण उसकी दृष्टि में शत्रु और मित्र की कल्पना नहीं रहती है।

श्लोक 25

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यत:।
बोधात्मानं तत: कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय:।।२५।।

आत्मदर्शन से रागादिक का क्षय–परमार्थत: अपने आपको देखने वाले इस मुझ आत्मा में रागादिक दोष तो नष्ट सुगम ही हो जाते है, क्योंकि आत्मतत्त्व को देखा जाने पर यह अनुभव किया गया कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान जैसे कि अमूर्त भाव है तो ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है। वह भी अमूर्त है। ऐसे अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपके स्वरूप को जिसने निरखा है ऐसे ज्ञानी संत के ये रागद्वेषादिक विकारभाव यों ही विलीन हो जाते हैं। राग को मिटाने का वास्तविक उपाय बाह्यपदार्थों का संग्रह विग्रह अथवा कुछ परिणमन कर देना, हो जाना यह नहीं है। राग का अर्थ है परवस्तु सुहा गई और राग मिटने का अर्थ है कि परवस्तु में सुहा गई ऐसी स्थिति ही न हो। वह स्थिति अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने से प्राप्त होती है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। जहाँ जाना कि यह मैं केवल जाननहार हूँ, अन्य इसमें वृत्ति होना मेरा स्वरूप नहीं है, तब वह रागद्वेष को क्यों अपनाएगा ? परमार्थ निजस्वरूप को देखने पर रागद्वेष नहीं ठहरते हैं।

रागादिक के क्षय से शत्रुत्व, मित्रत्व की कल्पना का अभाव—भैया ! ये रागद्वेष जीते जाने बड़े कठिन मालूम होते हैं। और ये इसलिए कठिन हैं कि इस जीव पर अज्ञान छाया है। शरीर को ही माना कि यह मैं आत्मा हूँ। सो शरीर को आराम चाहिए, शरीर की खुदगर्जी चाहिए, सब कुछ देखा है इस मोही जीव ने शरीर को। अत: वह इस शरीर को अहित जानकर, विनाशीक जानकर परोपकार में इसे लगाया जाय ऐसी बुद्धि नहीं करता है। अपनी इन्द्रियपोषण के लिए और अपने आराम के लिए इसका मन बना रहा करता है। ऐसा विषयाभिलाषी, शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला व्यामोही पुरूष रागद्वेष का कहां से क्षय करेगा ? वस्तुत: अपना ज्ञानमात्र स्वरूप अनुभव में आने पर वहाँ रागद्वेष रहा ही नहीं करते हैं, और जब रागद्वेष क्षीण हो जाते हैं तो वहाँ फिर कौन शत्रु है, कौन मित्र है ? न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है।

मुग्ध बुद्धि–जब तक यह पुरूष अपना स्वाभाविक निराकुलता रूप स्वभाव का अनुभव नहीं करता तब तक ही इसकी बाह्यपदार्थों में इष्ट बुद्धि व अनिष्ट बुद्धि होती है। और जिन्होंने पर में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि की सो वे लोग पर के लिए चिंतित रहा करते हैं। जो संयोग वियोग में साधक हैं उन्हें इष्ट मित्र मान लेते हैं और जो बाधक हैं उन्हें शत्रु मान लेते हैं। परन्तु स्वरूप दृष्टि को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि मुझसे सभी अत्यन्त जुदे हैं, फिर भी उन्हें अपनाने की बुद्धि इस मोही में पड़ी हुई है। जिस देह के साथ मेरा एक ज्ञेयाकार सम्बंध बन रहा है, जब मैं उस देह से भी पृथक् हूँ तो प्रकट पराया जो चेतन और अचेतन परिग्रह है वह मेरा कहां से हो सकेगा ? यह आत्मा पक्षी की तरह उड़ता फिर रहा है। आज मनुष्य भव में हैं, कल इस भव को भी छोड़कर अन्य भव में पहुंचेगा, फिर इस भव का समागम यहाँ का सब परिकर जो रागवश इकट्ठा किया है, क्या कुछ साथ देगा ? ओह इस मोही जीव के शरीर में कैसे दृढ़ आत्मबुद्धि है कि यह आराम चाहता है, साथ ही अपने नाम की कीर्ति भी चाहता है। सारे जीवन भर यश और कीर्ति के कार्य में लगा रहे और अंत में गुजर गया तो यहाँ का क्या कुछ साथ होगा ? नहीं, फिर भी यह मोही जीव अपने आपकी विकारमुग्ध बुद्धि से अपने आपको सताये जा रहा है। शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकने योग्य नहीं है।

आत्मा में मित्रत्व शत्रुत्व का अभाव—शत्रु मित्र किसी जीव से बँधें हुए नहीं हैं। अमुक जीव मेरा मित्र ही तो है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आप विषयसाधन में साधन निमित्त हो रहा हैं, तो उसे मित्र मान रहे हैं। इस ही जीवन में ही लो, विषयसाधक न रह सके तो वह शत्रु बन जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण आपको मिलेंगे। जिनका पहिले बड़ा दोस्ताना था कोई साधारण कारण पाकर वे एक दूसरे के प्रबल शत्रु हो जाते हैं। और अभी कहो किसी से शत्रुता हो, एक दूसरे को देखना भी न पसंद करें फिर भी विषयों की साधकता होने पर प्रिय मित्र बन जाता है तब शत्रु और मित्र होना यह कुछ द्रव्य में रहने वाली बात नहीं है, यह तो हमारी कल्पना की अधीन बात है।

देवरति राजा की आसक्ति—एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है। देवरति राजा था। उसकी स्त्री का नाम रक्ता था।

राजा को रानी पर अत्यन्त अनुराग था, जिसकी पूर्ति में वह राज्य को भी नहीं संभाल पाता था। तो प्रजाजनों ने, मंत्रियों ने एकचित्त होकर राजा से कहा कि महाराज या तो आप राज्य भार छोड़ दीजिए, हम मंत्रीगण राज्य करेंगे और आप अपनी रानी सहित रहीये या राज्यभार को विधिवत् संभालिए। तो रानी के अनुरागवश राजा ने राज्यभार छोड़ दिया और रानी को साथ लेकर राज्य से बाहर निकल गया। राज्य के बाहर किसी शहर के निकट ठहर गया। राजा तो भोजन सामग्री लेने गया और यहाँ रानी का क्या हाल होता है कि उस जगह कुवें पर एक कूबड़ा चरस हांक रहा था और चरस हाँकते हुए में सुरीला संगीत गा रहा था। आवाज बड़ी अच्छी थी, सो उस संगीत को रानी ने बहुत पसंद किया और उस कूबड़े के पास आकर बोली कि हम तुम्हें अपना मालिक बनाना चाहती हैं या अन्य अन्य बातें कही। तो कूबड़ा कृषक बोलता है कि तुम बड़े राजा की महारानी और हम कूबड़े का क्या हाल होगा, राजा तो दोनों के प्राण नष्ट कर देगा। तो रानी बोली कि यह इलाज तो हम कर लेंगी।

रक्ता रानी की अनुचित वृत्ति—अब उस रक्ता रानी ने क्या किया इलाज ? जब राजा आया तो रानी उदास चित्त बैठ गयी। राजा कहता है कि तुम्हारी प्रसन्नता के लिए हम राज्यभार छोड़कर जंगल की खाक छानते फिर रहे हैं, फिर भी तुम उदास हो, यह उदासी मैं नहीं देख सकता हूँ। इस उदासीनता का कारण बतावो। रानी कहती है कि कल के दिन तुम्हारा जन्मदिवस है, जन्मदिवस भी भाग्य से आ गया था। यदि राजमहल में होती तो सिंहासन पर आपको बिठाकर आपका स्वागत करती। अब जंगल में हम आपका कैसे स्वागत करें ? तो राजा बोला कि यहाँ भी तुम जैसी उत्तम विधि बना सको, बनावो। रानी बोली कि आप जंगल से बहुत से फूल लावो, डोरा लावो, हम माला बनायेंगी। राजा ने फूल ला दिया। रानी ने मजबूत धागे से दस दस, बीस-बीस हाथ की लम्बी कई मालाएँ बनाईं। और कहा—महाराज यहाँ महल तो नहीं है पर यह पर्वत है, इसके शिखर पर चलो, उस शिखर पर आपको विराजमान कर आपका स्वागत करूंगी। राजा उस चोटी पर पहुंचा। रानी ने उन मालावों से राजा को कसकर बाँध दिया और एक जोर का धक्का लगाया, सो लुढ़कता लुढ़कता राजा नदी में जा गिरा और बहकर दूसरे राज्य के किनारे पहुंच गया।

भाग्य का कदम—भैया ! भाग्य की बात कि उस राज्य में राजा गुजर गया था, उसके कोई संतान उत्तराधिकारी न था। मंत्रियों ने यह विचार किया कि यह गजराज जिसके गले में माला डालेगा और अपनी सूँड़ से उठाकर अपने मस्तक पर बैठा लेगा उसे राजा बनाया जायेगा। गजराज को छोड़ दिया। वह हाथी घूमते-घूमते उसी जगह पहुंच जाता है जहाँ यह देवरति राजा किनारे लगा हुआ था भूखा प्यासा। गजराज ने उस पर माला डाली और अपने सिर पर सूँड़ से उठा लिया। वह देवरति फिर राजा बन गया।

रक्ता की अनुचित वृत्ति का परिणाम—यहां रक्ता का क्या हाल हुआ कि एक टोकरी में उस कूबड़े को रखकर और अपने सिर पर लाद कर यत्र तत्र डोलने लगी। वह गाए और रक्ता रानी नाचे। इस नाचने

और गाने के एवज में जो कुछ मिल जाय उसी से दोनों का पेट पलता। यह रक्ता रानी यों डोलते डोलते उस दूसरे नगर में भी पहुंच जाती है जहाँ देवरति राजा बन गया था। खबर पहुंची कि एक पतिव्रता नार आई है जो अपने पति को हमेशा सिर पर रक्खे रहती है, पति गाता है और पत्नी नाचती है। उसे राज दरबार में बुलाया गया, देवरति राजा को सन्देह हुआ कि यह वही रानी है जिसके अनुराग में मैंने राजकाज छोड़ा था और जिसने हमें पर्वत से ढकेला था। वह विरक्त हो गया।

प्रयोजन यह है कि एक बात नहीं, अनेक दृष्टांत ऐसे हैं जिनसे यह विदित होता है कि शत्रु मित्र कोई पेटेन्ट नहीं हैं। पुरूष भी जब जब अपने विषय साधनों के योग्य स्त्री को नहीं समझते हैं तो उसे कष्ट देते हैं, उपेक्षा कर देते हैं। तो यह ऐसा जगत है। यहाँ किस जीव को तो शत्रु कहा जाय और किसको मित्र कहा जाय ? कोई जीव में नाम खुदा है क्या ? हम ही अपनी कल्पना में जिसे विषयसाधक मानते हैं उसे मित्र समझते हैं और जिसे बाधक मानते हैं उसे शत्रु समझने लगते हैं।

आत्मतत्त्व की परिपूर्णता—यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप हूँ। इसमें ज्ञान प्रकाश है और आनन्द का अनुभव है। इसमें ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भाव, परतत्त्व मुझमें नहीं है। ऐसे अपने आपके अनुभवने वाले ज्ञानी सन्त के रागादिक भाव क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। जगत में क्लेश ही रागद्वेष मोह का है। जीव तो स्वतंत्र है, अपने स्वरूपरूप है, परिपूर्ण है। जो बात इसमें नहीं है वह बात कभी बाहर से आ नहीं सकती। जो बात इसमें है वह इससे कभी छूट नहीं सकती है। ऐसी दृढ़ता केवल आत्मतत्त्व की ही नहीं है किन्तु समग्र सर्वपदार्थों में ऐसी दृढ़ता है कि वह अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है, और पररूप को ग्रहण करता नहीं है। जब ऐसा अव्याबाध मेरा स्वरूप है तब किसका भय है ? कौनसी शंका है ?

ज्ञानी गृहस्थ का परमार्थ और व्यवहार—भैया ! पर्याय का कर्तव्य और आत्मतत्त्व के नाते ये दोनों अलग-अलग है। और इसमें परस्पर झमेला भी चला करता है, पर यह सत् पुरूष कभी व्यवहार की बात को निभाता है और कभी परमात्मतत्त्व का अनुभव करता है। जैसे आप यहाँ हैं, मरण करके किसी अन्य देश में पहुँचे तो मेरे लिए यह देश क्या रहा ? आप जिस कुटुम्ब में हैं उसका राग करते हैं। और मरण करके किसी अन्य जगह में पहुँचे तो यहाँ के कुटुम्ब का राग फिर कहां मिलेगा ? बल्कि जहाँ पहुँचे उसका पक्ष रहेगा, और उसके मुकाबले में इस पूर्वभव के कुटुम्ब से द्वेष रक्खेंगे। जैसे आज यहाँ इस देश में हैं, भारतवर्ष में हैं और यहाँ से मरण करके भारत के शत्रु देश में जन्म ले लिया तो उसके लिए फिर उस नए देश से अनुराग हो जायगा और भारतवर्ष से शत्रुता हो जायगी। परमार्थ दृष्टि से देखो तो यह बात है और व्यवहारदृष्टि से देखो तो क्या राष्ट्र प्रेम न रखना चाहिए ? क्या राष्ट्र आक्रमण ही प्रिय है ? फिर गुजारा कैसे होगा ? यह एक लौकिक बात है। ज्ञानी सन्त पुरूष इन दोनों ही बातों को निभा लेते हैं, और जब जो करने योग्य है वह सब इसमें हो जाता है। यह सब आत्मतत्त्व के प्रसाद का प्रताप है। परमार्थ और व्यवहार दोनों बातों में ज्ञानी सन्तपुरूष परमार्थ की बात प्रमुख रखते हैं और पदानुसार करते हैं परमार्थ

और व्यवहार दोनों ही बातों को।

आत्मा में भव की उलझन और सुलझन—यह समाधितन्त्र ग्रन्थ है। इसमें समाधि के उपाय बताये जा रहे हैं। मैं केवल भावना ही कर सकता हूँ, अन्य पदार्थों में, मैं कुछ भी परिणमन नहीं कर सकता हूँ, तब भाव ही तो बनाया है। मैं अन्तर में ही बसा बसा केवल भाव किया करता हूँ, कल्पनाएं बनाया करता हूँ, अन्य पदार्थों का कुछ नहीं करता हूँ। ऐसी स्थिति में इसको रागद्वेष करने का अवसर कहां से आयगा ? यह तो जानता है कि मेरा किसी ने कुछ सुधार बिगाड़ नहीं किया। यह मैं अपने आप ही अपनी प्रज्ञा से कभी उलझ जाता हूँ तो कभी सुलझ जाता हूँ। जैसे मन्दिर के शिखर पर लगी हुई ध्वजा में ध्वजा के ही कारण कभी डंडे में पूरा लिपट जाता है और कभी उस डंडे से छूटकर फहराने लगता है। उस जगह उस ध्वजा को उलझाने वाला कौन है ? और सुलझाने वाला कौन है ? उस हवा की प्रेरणा पाकर यह ध्वजा अपने आप में ही उलझ जाता है और अपने आप में ही सुलझ जाता है। ऐसे ही इस आत्मा को उलझाने वाला कौन दूसरा है, और सुलझाने वाला भी कौन दूसरा है ? यह अपने ही स्वरूप से उलझ जाता है और अपने ही प्रज्ञाबल से सुलझ जाता है। कितनी सुगम यह कला है, आराम विश्राम से रहकर अपने आपमें ही रहकर अन्तर में कुछ भावना बनाता है। उस भावना के प्रसाद से जो कुछ निरन्तर होने योग्य है वह होने लगता है और जो नहीं होने योग्य है वह सब छूट जाता है।

ज्ञानप्रकाश—भैया ! आत्मा की ऐसी बड़ी निधि को प्राप्त करने के लिए परपदार्थ की अणुमात्र भी आवश्यकता नहीं है किन्तु विश्वास की दृढ़ता की आवश्यकता है। जिसका विश्वास दृढ़ नहीं है, पौरूष नहीं बनता है वह सदा कल्पना बना बनाकर दुःखी रहा करता है। मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ और मात्र ज्ञान द्वारा ही अपने आपका अनुभवन करने वाला हूँ, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व अपने आपमें अपने आपका अनुभवन करता हुआ मोक्षमार्ग में कदम बढ़ाऊं। परमार्थ से ज्ञानस्वरूप मुझ आत्मा को मैंने देख लिया तो वहाँ रागादिक भाव ठहरते नहीं हैं, क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, और जब रागादिक न रहे तो शत्रु और मित्रता की कल्पनाएं सब समाप्त हो जाती है। किसी को अपने घर के कुटुम्बी से उतना अनुराग नहीं होता जितना कि अन्य पुरूष से, अन्य ग्राम में रहने वाले पुरूष से अनुराग अधिक बन जाता है। यहसब आत्मा में आत्मीयता का ही सौदा है। कोई जबरदस्ती बनाने सेयह बात नहीं बना करती है। मैं स्वयं सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, इसमें तो क्लेश की गुंजाइश भी नहीं है। राग और द्वेष का वहाँ पर स्थान भी नहीं है।

आत्मयत्न—भैया ! अब मोह की नींद छोड़ें, आत्मतत्त्व में स्थिर होने का यत्न करें, क्योंकि समय बड़ी तेजी से बीता जा रहा है, किसी परतत्त्व को अपने उपयोग में ले लेने से हम कौनसी महिमा पा सकेंगे ? यहाँ तो सारा न्याय न्याय से हुआ करता है। जैसा अन्तर में परिणाम है, वैसा ही परिणमन प्रवर्तन और फल आगे प्राप्त हो जाता है। मैं सर्व कर्म और कर्मफलों से दूर हूँ, ऐसा आत्मानुभव करने वाले पुरूष के ये दो बातें हो जाती हैं। एक तो रागादिक भावों का विनाश और दूसरे पर जीवों में शत्रु और मित्र की कल्पना का अभाव। ये दो बातें

जहाँ प्रकट हुई है वहाँ सहज ही आनन्द जग रहा है। किसी से उस आनन्द के पूछने की आवश्यकता नहीं है। हमारा कर्तव्य है कि हम कुछ क्षण तो सर्वपदार्थों का ख्याल छोड़कर निर्विकल्प अखण्ड सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभवन में लगें, यही मात्र अनुभव ही इस संसार के समस्त संकटों से पार कर सकता है।

श्लोक 26

मामपश्यन्नयं लोको न ये शत्रुर्न च प्रिय:।
माम प्रपश्यन्नयं लोको न में शत्रुर्न च प्रिय:।।२६।।

मेरे परिचित और अपरिचित सब जीवों में शत्रुत्व व मित्रत्व का अभाव—यह लोक, जिसके प्रति अज्ञानी जनों की शत्रु या मित्र रूप में देखने की वासना रहती है, यह लोक क्या मुझे जानता है ? यह जो मैं ज्ञानस्वरूप मात्र अमूर्त आत्मतत्त्व हूँ, जिसका न देह से सम्बंध है न देश से सम्बंध है ऐसा यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व क्या इस लोक के द्वारा देख लिया गया हूँ या नहीं देखा गया हूँ। यदि ये मनुष्य मुझ आत्मा को देखने वाले हैं याने पहिचानने वाले हैं तो वे मेरे शत्रु और मित्र हो ही नहीं सकते, क्योंकि उन्होंने ज्ञानस्वरूप मुझ आत्मा को ज्ञानस्वरूप के रूप में ही देखा है। उनके उपयोग में रागद्वेष की तरंगें उठ ही नहीं सकती। फिर वे मेरे शत्रु कैसे और मित्र कैसे तथा यदि उन्होंने मुझे नहीं देखा है तो जिन्होंने देखा ही नहीं है वे मेरे कैसे शत्रु और कैसे मित्र होंगे।

उन्मत्तवृत्ति—सारे विकार, समस्त अवगुण, सकल विडम्बनाएं एक आत्मा के स्वरूप के अपरिचय में ही हैं। जैसे पागल अपनी धुन में लत्तों और कागजों को संचित करता फाड़ता रहता है, कुछ से कुछ करता है, समझदार लोग उसकी उन्मत्त चेष्टा को पहिचान सकते हैं। ऐसे ही ये अज्ञानीजन स्वरूप से अनभिज्ञ कहीं घर को अपना मानकर, समाज को अपना मानकर, देश को अपना समझकर उसके अनुकूल चेष्टा कर उतारू रहते हैं। इन चेष्टावों में, इन विकल्पों में इस ज्ञानानन्दस्वभावी निज परमात्मा का कैसा घात हो रहा है इसकी इसे फिक्र नहीं हैं। कैसे फिक्र हो आखिर अपने आपको समझा भी नहीं और न यह जाना है कि मुझ पर कोई विडम्बना है। इस उन्मत्त चेष्टा को ये जग के वासी जग के रूचिया लोग कैसे जाने, वे तो प्रशंसा ही करेंगे।

मायाद्वारा माया का मायावाद—यह सारा जगत् मायामय है। यहाँ जितने भी पुरूष हैं और अन्य-अन्य पर्यायें हैं वे सब मायास्वरूप हैं, परमार्थरूप नहीं हैं, ये मायामय पुरूष यहाँ एक दूसरे की प्रशंसा कर रहे हैं और फूले नहीं समाते हैं और वे अपने को कृतार्थ समझ लेते हैं। जैसे एक उक्ति है—'उष्ट्राणं विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्धभा:। परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनि:।' ऊँटों का हो रहा था कहीं विवाह, सो अब विवाह के समय कोई गाने वाले भी तो चाहिए। सो बड़ी खोज करते-करते गीत गाने वाले मिले गधे। सो गधे लोग गीत गाते हैं—अहो, कितना सुन्दर रूप है ऊँटों का ? अब ऊँटों का रूप कहीं सुन्दर होता है ? गर्दन टेढ़ी, पीठ टेढ़ी, सब वक्र अंग है। जिनके मुख की आकृति भी प्राय: सब जानवरों से विचित्र है, लेकिन गधे लोग गा रहे हैं कि

कितना सुन्दर रूप है ? तो ऊँटों की ओर से क्या जवाब मिल रहा है कि ओह ! गधों का कितना सुन्दर राग है ? गधों का राग किसी ने गाते सुना है ? शायद कोई पशु, पक्षी, मनुष्य भी ऐसा नहीं गा सकते कि हवा बाहर निकाले तब भी राग और हवा भीतर ले तब भी राग। मनुष्य गाते समय सांस लेंगे तो उन्हें रूकना पड़ेगा, फिर गाना गायेंगे पर इन गधों को रूकने का काम नहीं है। हवा निकालेंगे तो आवाज, हवा भीतर खीचेंगे तो आवाज। तो जैसे गधे और ऊँट आपस में एक दूसरे की प्रशंसा करके परस्पर में राज़ी हो जाते हैं ऐसे ही ये जगत के प्राणी एक मोही दूसरे मोही की प्रशंसा करके परस्पर में राजी होते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि यह राजी हो जाना अपने आपके प्रभु पर कितना बड़ा अन्याय है ?

सबका स्वतन्त्र परिणमन—अज्ञानी जन कीर्ति को गाने वाले, प्रशंसा करने वाले अथवा मन के अनुकूल चलने वाले या इन्द्रिय के विषयों में साधक होने वाले लोगों को प्रिय मानते हैं। मित्र जानते हैं, बंधु समझते हैं और जो मन के प्रतिकूल चल रहे हों, इन्द्रिय के विषयों के साधनों में बाधक हो रहे हों उन्हें ये शत्रु मानते हैं। यह सब अज्ञान का स्वप्न है। वास्तव में कोई पुरूष न मेरे मन के अनुकूल चलता है और न प्रतिकूल चलता है। वह तो चलता है जैसी उसकी योग्यता है। जैसा उसका वातावरण है उसके अनुकूल उसका परिणमन हो रहा है। वह न तो मेरे प्रतिकूल है और न मेरे अनुकूल है। मैं इच्छावान हूँ सो जैसी इच्छा रखता हूँ उसके अनुकूल मुझे जो जंचा तो मैं अपनी ओर से कह सकूँगा कि यह अनुकूल परिणमन है अथवा मेरी इच्छा के विरूद्ध बना तो मैं ही अपनी ओर से कह सकूँगा कि मेरे प्रतिकूल परिणमन है। पदार्थ तो जैसे है वैसे हैं, जैसे परिणमते हैं सो परिणमते हैं।

अपनी वेदना का इलाजरूप परिणमन--कालिदास के जमाने में एक राजा ने अपनी लड़की को ऐसा वर ढूँढ़ना चाहा कि जो हमारी लड़की से भी अधिक चतुर हो और शास्त्रार्थ में मेरी लड़की को हरा दे, जीत ले। पंडित लोग बड़े परेशान हो गए। पंडितों ने आपस में सलाह की कि कोई महाबुद्धू वर ढूंढ़े और चकमा देकर उसकी शादी करवा दें तो राजा को भी पता पड़ेगा और राजा की लड़की को भी पता पड़ेगा। सो ढूँढ़ा महाबुद्धू को। तो यह जो कालिदास जी बड़े कवि हुए हैं वे कुमार अवस्था में एक बार एक पेड़ पर चढ़े हुए शाखा के अग्र भाग पर बैठे हुए कुल्हाड़ी से शाखा को काट रहे थे। अब बतलावो कि वह शाखा कटेगी तो वह गिरेगा कि नहीं ? वह तो गिर ही जायेगा। तो जो पंडितों ने ऐसा हाल देखा तो सोचा कि इससे अधिक बुद्धू और कौन मिलेगा ? सो उसे पकड़कर चले, कहा कि तुम्हारी शादी राजपुत्री से करायेंगे, पर एक बात है कि तुम मौन रहना, बोलना कुछ नहीं। और तुम्हें कुछ बताना हो तो हाथ से इशारे करना। उसे मौनव्रत दिला दिया।

अपनी अपनी समझ का भाव और प्रवर्तन—अब वे कुछ पंडित कालिदास के साथ पहुँचे सभा में, तो कहा-महाराज ये बहुत ऊँचे विद्वान आए हैं। राजा ने कहा ठीक, शास्त्रार्थ होने दो तो पंडितों ने कहा कि शास्त्रार्थ तो होगा, पर इस विद्वान का मौन व्रत है, इसलिए संकेत में शास्त्रार्थ कर लेंगे पर वचन बोलकर नहीं। अच्छा यों ही सही। तो कहा कि पहिले लड़की कोई प्रश्न रक्खें, तो लड़की ने एक अंगुलि उठायी। वह भी संकेत में

शास्त्रार्थ करने लगी। तो लड़की का यह भाव था कि एक ब्रह्म है, भाव तो यह था और कालिदास ने यह जाना कि यह लड़की कह रही है कि मैं तेरी एक आँख फोड़ दूंगी। तो उसने जोर से दो अंगुलि उठा दीं, जिसका भाव था कि मैं तेरी दोनों आंखें फोड़ दूंगा। पंडितों ने उसका अर्थ लगाया कि यह कन्या कह रही है कि एक ब्रह्म है तो हमारे ये महापंडित जी यह बतला रहे हैं कि एक ब्रह्म ही नहीं है साथ में एक माया भी लगी है। तो इस विश्व में ब्रह्म और माया दो का विस्तार है। लो, लड़की हार गयी। पंडितों ने कहा दूसरा प्रश्न करो। सो लड़की ने पाँच अंगुलियां उठाकर दिखाई। लड़की का भाव था कि दुनिया पंचभूतमयी है। कालिदास ने समझा कि यह लड़की कहती है कि मैं तमाचा मार दूंगी, सो कालिदास ने मुक्का बांधकर उठाया। उसका भाव था कि मैं मुक्के से तेरी खबर लूंगा। पंडितों ने अर्थ लगाया कि लड़की कह रही है कि यह सारा विश्व पंचभूत तो है मगर वे सबके सब पदार्थ एक ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित है। लो, लड़की हार गयी। विवाद हो गया। फिर आगे की कथा ऐसी अच्छी है कि कैसे कालिदास को बोध हुआ और कैसे वे पंडित बने। वहाँ प्रयोजन यह बताने का है कि सब अपने अपने भावों के अनुसार परिणम रहे हैं और अपनी योग्यतानुसार भाव समझ रहे हैं।

तथ्य के अपरिज्ञान में विसंवाद—भैया ! समाज में गोष्ठियों में किसी भी जगह झगड़े क्यों हो जाते हैं ? कहने वाले कहते हैं किसी दृष्टि से और सुनने वाले सुनते हैं अपनी जुदा दृष्टि से। तो वहाँ विवाद होना सम्भव ही है। कोशिश यह होनी चाहिए कि हम कहने वाले के दृष्टिकोण को परख कर अपने आपका भी आशय उसी दृष्टि का बनाएं उसकी बात समझने के लिए तो उसका हृदय हम समझ सकते हैं। यदि वह कहता है अपनी दृष्टि से और हम सुनेंगे अपनी दृष्टि तो वहाँ विवाद हो जायगा। इस लोक में जो मेरे प्रति कुछ भी चेष्टा करते हैं उसको इस रूप में निहारें कि यह बेचारा अपने कषाय भाव के अनुसार अपनी वेदना शांत करने के लिए अपने मन, वचन, काय की चेष्टा कर रहा है, मुझको कुछ भी नहीं कह सकता, न कह रहा है। कोई नाम लेकर भी मुझे गालियां दे तो भी वह मुझे कुछ नहीं कह रहा है किन्तु अपनी योग्यता के अनुसार केवल वह अपना परिणमन कर रहा है। यह तथ्य की बात है और पूर्ण सत्य है, पर हम इस तरह से नहीं निरखना चाहते दूसरों को, इस कारण व्यर्थ ही दुःखी हो रहे हैं।

कल्पना का भयंकर हौवा—इस जीव ने कुछ तो दुःख का बोझ उठाया है आपत्ति के कारण और कुछ क्या, अधिकांश, दुःख का बोझ उठाते हैं अपने मनचलेपन के ऊधम से, व्यर्थ के भ्रम से। अपने २४ घंटे के जीवन में ही देख लो लोग किस किस बात पर दुःख मानते हैं और वे बातें सचमुच में आपत्तिरूप में है या व्यर्थ में इसकी कल्पना बनाकर एक हौवा खड़ा किया है। हौवा जानते हो किसे कहते हैं ? क्या किसी ने हौवा देखा है ? कैसा होता है ? अरे ! उस मां को भी इसका पता न होगा कि वह हौवा कैसा होता है ? जो मां अपने बच्चे को हौवा से डरवाती है। क्या वह मां बता सकती है कि वह हौवा क्या खाया करता है ? अरे ! उस हौवा को क्या बताया जाय ? है कुछ नहीं पर कल्पना में एक हौवा बना रक्खा है। ऐसे ही हमारे जीवन में जो रात दिन संकट आते हैं वे संकट हौवा की तरह कल्पना में कुछ सोचने से आ जाते हैं। जैसे कोई गाने की कला जानता हो और दूसरा कोई बेसुरे राग से गाये तो उसके चित्त में बड़ा क्लेश पहुंचता है। कोई शुद्ध संस्कृत का पाठी हो

और कोई मन्दिर में आकर अशुद्ध संस्कृत या भक्तामर काव्य बोलने लगे तो उसको सुनकर ठेस पहुँचती है। खैर, यह तो गलत बात देखकर ठेस पहुंची पर किसी को तो सही बात देखकर भी ठेस पहुँचती है। चोरों को उजाला देखकर ठेस पहुँचती है। कोई साहूकार जग रहा हो तो उस पर उस चोर को रोष आता है, और कितनी ही बातें तो ऐसी जबरदस्त बना लेते हैं कि जिनको न सोचें तो क्या हर्ज था पर सोचे बिना रह नहीं सकते।

पर का अन्य में अनधिकार—यह सारा जगत मेरा कुछ नहीं कर रहा है, वह अपनी वेदना को शान्त करने के लिए अपने अनुकूल अपना परिणमन कर रहा है। मेरे में परिणमन का कोई सम्बंध नहीं है। उसे मैं साधक बाधक जानवर अपनी ही ओर से अपनी ही कल्पना में शत्रु और मित्र बना लेता हूँ। किसे बनाएं मित्र ? गुजारा करना और बात है, चाहे वह घर का गुजारा हो, जीवन का गुजारा हो, धर्मपालन का गुजारा हो, जिस गुजारे में वह साधक मालूम पड़ता है भले ही उनसे कुछ नाता चलता है किन्तु किसे बनाएं मित्र ? कौन कह सकता है कि हम तुम्हारे साथी रहेंगे ? रह जाय कोई साथी तो उसमें मेरा उदय कारण है। कौन कह सकता है कि घबड़ावो मत, हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे मरने पर हम साथ चलेंगे। अरे ! जीवन में भी तो साथ रह सकने का कोई दावा नहीं कर सकता। भले ही जीवन तक साथी रह जाय, पर दावा नहीं कर सकता कि हम तुम्हारे जीवन भर के साथी ही हैं।

वायदे की स्वप्न–अरे ! जिसने भांवर पड़ते समय स्त्री से वायदा किया था, साथ-साथ वचनों से दोनों बन्ध गए थे, मोह हट जाने पर वह वादा टूट जाता है, विरक्त हो जाता है, आत्मध्यान के पथ पर चलने लगता है। कौन निभा सकता है वायदे को ? यद्यपि विश्वास में ऐसा है कि हमारा अमुक आदमी से जीवन भर भी कोई मनमुटाव हो ही नहीं सकता। हम आपके साथ ही रहेंगे और सम्भव है प्राय: कि जीवनभर मनमुटाव न हो सके, किन्तु दावा कुछ नहीं किया जा सकता। क्या से क्या परिणति हो ? श्री राम और सीता का एक दूसरे से क्या कम स्नेह था, पर राम क्या दावा कर सके कि सीता को कभी कष्ट में न रक्खूंगा ? अरे ! जरा सी धोबिन की बात सुनकर सीता को निकलवा दिया था, जंगल में छुड़वा दिया था। क्या कोई सम्भावना कर सकता है, कर सकता था उस समय कि ऐसी भी बात हो सकती है। इस सारे जहान के समस्त जीव अपने अपने कषाय भाव के अनुसार अपनी योग्यता से परिणमन किया करते हैं। मेरा कोई मित्र नहीं, कोई शत्रु नहीं, कोई प्रिय नहीं, कोई विरोधी नहीं। ये सब अपने आपके स्वरूप में अपना परिणमन करते हैं।

ठलवाईगिरी का संकट—भैया ! यह बहुत बड़ा संकट है कि कोई मेरा विरोधी तो है नहीं, पर मैं अपनी कल्पना से दूसरों को विरोधी मान बैठता हूँ, यही सबसे बड़ा संकट है, अज्ञान अँधेरा है। कोई मेरा मित्र तो है नहीं, हो ही नहीं सकता। कोई अपने प्रदेशों से बाहर अपनी पर्याय फेंक कर मुझमें डाल न देगा। कोई खुश हो रहा है तो वह पूरा का पूरा अकेला अपने आपमें खुश हो रहा है, मेरे को खुश करता हुआ खुश नहीं हो रहा है। मैं खुश हो जाऊं यह मेरे घर के विपरीत मेरे परिणमन की बात है, क्योंकि वस्तु का स्वरूप बताता ही नहीं है कि कोई दूसरे पुरूष को किसी रूप परिणमा दे। ज्ञान और क्या है ? ऐसे ही स्वतंत्र स्वरूप की दृष्टि आ जाना

ही तो ज्ञान है। प्रत्येक जीव अंतरंग में ऐसे सहज स्वभावरूप है, जिस स्वभाव की दृष्टि में सर्वजीव पूर्ण एक समान हैं। एक तो इस तत्त्व को दृष्टि में बनाये रहना और दूसरे फिर इस तत्त्व को दृष्टि में रखना कि सब जीव परिणमन भी करते हैं किन्तु वे सब अपने उपादान के अनुसार अपना अपना परिणमन किया करते हैं। वे मेरा कुछ नहीं करते हैं। एक अपने विविक्त परिणमन को निरखना, इन दो तथ्यों को अपनी दृष्टि में बनाए रहना सर्वोत्कृष्ट वैभव है, जिस वैभव के बल से यह जीव सर्वसंकटों से उस काल में भी बाहर रहता है।

शत्रुत्व व मित्रत्व के अभाव की दृष्टि—अब देखिए यह लोक यदि मुझे देख रहा है, मुझे समझ रहा है, इस ज्ञानात्मक आत्मतत्त्व को ज्ञानरूप में ही ज्ञान द्वारा जान रहा है तो वह स्वयं शान्त हो गया, स्वयं ज्ञानस्वरूप हो गया। अब उसमें कोई तरंग ही नहीं उठ सकती। अब यहाँ कौन मेरा शत्रु है ? कौन मेरा मित्र है ? वे तो ज्ञाता रहकर अपने आनन्द रस में रहकर तृप्त हो रहे हैं। यह जीव, कोई प्राणी मुझको नहीं जानता है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। इस मुझको जो नहीं समझ रहा है वह मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है ? मुझे तो यह लक्ष्य में ही नहीं लेता है। तो दोनों ही प्रकार से पर के प्रति शत्रुता और मित्रता की कल्पना से रहित यह ज्ञानी सन्त आत्मा की आराधना कर रहा है।

श्लोक 27

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थित:।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (त)।।२७।।

मुमुक्षुवों का कर्तव्य व पूर्वस्थिति का वर्णन—अब तक जो वर्णन किया गया है वह बहिरात्मापन का त्याग हो और अन्तरात्मा में अवस्थान बने, इस उद्देश्य से वर्णन हुआ। इस वर्णन के पश्चात् अब इस श्लोक में यह कहा जा रहा है कि इस प्रकार मुमुक्षुजनों को बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा में व्यवस्थित होते हुए सर्वसंकल्पों से रहित इस परमात्मा की भावना करनी चाहिए। बहिरात्मा अवस्था कितनी घोर अज्ञान अंधेरी की अवस्था है कि जहाँ ऐसी भ्रम बुद्धि और बहिर्मुखी वृत्ति हो जाती है कि अपने स्वरूप का तो रंच झुकाव भी नहीं रहता, भान भी नहीं रहता। जिस देह में पहुंचता हैं उस ही देह को 'यह मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है और जिस देह से रहित हूँ उस देह के योग्य जो प्रवृत्तियां होती हैं वे बन जाती हैं। आज यह जीव मनुष्यभव में है तो मनुष्यों जैसा आहार किया करता हूँ। रोटी साग आदि बना बनाकर खाता है और मरकर हो जाय पशु तो वहाँ घास ही उसे प्रिय हो जाती है।

पर्यायबुद्धि—कोई स्त्री के देह में जीव है तो उसकी बोलचाल मैं जाती हूँ, मैं करती हूँ ऐसी हो जाती है। कैसा अभ्यास हो जाता है ऐसा बोलने का। कोई स्त्री यों नहीं बोलती है कि मैं जाता हूँ, मैं करता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, और कोई पुरूष भी ऐसा न बोलता होगा कि मैं जाती हूँ, मैं करती हूँ, मैं पढ़ती हूँ। कैसा अभ्यास हो जाता है ? एक कन्या जो खूब स्वच्छन्द खुले सिर फिरा करती है, विवाह होने के बाद एक मिनट में ही ऐसी कला आ

जाती है, न उसे कोई सिखाने गया, न उसकी मां को ही सिखाने का मौका मिला, न सास ने सिखा पाया, पर लुक छिपकर जाना, घूँघट करके चलना सिमिटकर चलना, ये सभी कलाएं अपने आप आ जाती है। तो यह जीव जैसा चित्त में विकल्प करता है उसके अनुसार उसकी वृत्ति भी बन जाती है।

बहिरात्मावस्थाकीय भूलें—बहिरात्मा अवस्था में मूल भूल यह हुई है कि इसने अधिष्ठित देह को 'यह मैं हूँ' ऐसा माना व द्वितीय भूल यह हुई है कि परदेह को यह परजीव है, ऐसा माना है। फिर तीसरी भूल यह हुई है कि इन देह देहों के नाते से पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक सम्बंध माना है, चौथी भूल यह हुई है कि धन वैभव को इसने अपनाया और बड़ी मूढ़ता भरी चेष्टाएं कीं। आखिरी भूल यह है कि इसने अपना नाम चाहा; कीर्ति, प्रशंसा, पोजीशन की चाह बनायी है। सब विडम्बनावों से त्रस्त यह जीव जब कभी गुरूप्रसाद से सत्संग में ज्ञानाभ्यास द्वारा जान पाया कि और सर्वजीव सर्वपदार्थ स्वगुणपर्यायात्मक हैं और परिपूर्ण है। यहाँ किसी भी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ कोई सम्बंध नहीं है तो पर की ओर से विकल्प हटा और ऐसी निर्विकल्प स्थिति के बल से अपने आपमें विश्राम पाया और वहाँ जो आनन्द का अनुभव हुआ, ज्ञानप्रकाश हुआ, उसके कारण इसने अन्तरात्मा में व्यवस्थित होने की स्थिति बनाली, अपने आपको स्वरूप को अनेक उपायों से देखा, साधा, इस मेरे का कौन दूसरा है, कौन सुख दुःख का साथी है, कौन मेरी परिणति को कर सकने वाला है ? जैसे यह मैं बाहर में किसी दूसरे का कुछ नहीं किया करता हूँ यों ही समस्त दूसरे मेरा कुछ भी नहीं किया करते हैं। ऐसा बोध बनता तो अपने आत्मा में यह व्यवस्थित हो लेता।

प्रबुद्धता—अब देह में आत्मबुद्धि न रहने से यह ज्ञाता विदेह होने के निकट जाने लगा। इसे अब उन वृत्तियों में पछतावा आने लगा जिन वृत्तियों को यह हर्षपूर्वक ज्ञान से पूर्व अपनाता था। विषयों से इसे वैराग्य आया, ज्ञान को संभालने का बहुत बड़ा यत्न होने लगा। अब किसको सोचे, किसको बोले, क्या करे, सब कुछ असार दिखने लगा तथा यत्नपूर्वक मन, वचन, काय की क्रियावों को रोककर अपने आपमें अपने दर्शन का अवकाश पाने लगा, बारबार आत्मीय आनन्द का अनुभव लेने लगा ऐसा ज्ञानीसंत, इस कारण परमात्मतत्त्व की और कार्यपरमात्मतत्त्व की भावना में रत रहने लगा।

पर की अविश्वास्यता—इस लोक में मेरा कौन सहाय है, जिस पर हम पूर्ण भरोसा कर सकें कि अब कोई धोखा न होगा। जिन-जिन से हित मान रक्खा हो, जिन जिनको अपना मान रक्खा हो उन सबके निकट जा जाकर उपयोग द्वारा इस प्रश्न का समाधान पायें कि कौन मेरा सहाय होगा ? सभी जीव केवल अकेले ही अपने सुख और दुःख को भोगा करते हैं। जन्मता है तो अकेला, मरता है तो अकेला, पुण्य पाप करता है तो अकेला, संसार में रूलता है तो अकेला, संसार में विरक्त होता है तो अकेला और मुक्त होता है तो अकेला। दूसरा कोई दूसरे का साथी बन जाय यह तो वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। जैसे बच्चों में आपस में दोस्ती होना और दोस्ती मिटना यह घंटे में १० बार हो जाता है। बीच में अंगुलियां मिलायीं दोस्त बन गए और छिगुली से छिगुली मिलायी दोस्ती कट गयी। यहाँ भी जब कभी कोई विषयों के साधने में साधक हुआ तो लो दोस्ती हो गयी और जब मन की अभिलाषावों में बाधक हुआ तो लो दोस्ती कट गयी। किसका विश्वास

किसका सहारा लिया जाय कि फिर हमें दूसरे विचार न बदलने पड़ें, न कोई कार्यक्रम बने।

वाह रे समागम—इस लोक में ३४३ घन राजू प्रमाण का विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है जिस क्षेत्र के सामने यह पूरा नगर अथवा यह पूरा देश या यह वर्तमान के भूगोल में मानी हुई पूरी दुनिया यह सब इतने भी नहीं है जितने कि समुद्र की एक बूंद हो। इतनी भी गिनती नहीं है। समुद्र की जितनी बूंद है उनमें से एक बूंद जितने हिस्से में बैठे उतना भी हिस्सा दुनिया के क्षेत्र के मुकाबले में आज की परिचित दुनिया नहीं है। फिर यहाँ के मरे कहीं गए, फिर क्या रहा समागम ? जहाँ यह जीव पहुंचता है वहीं की सारी बातें करने लगता है। कौनसी जगह सारभूत है और कौनसा समागम सारभूत है। सुकौशल की मां जिनका पुत्र से इतना तीव्र स्नेह था कि उसने स्नेह के कारण अपने महल में मुनियों का प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया था कि कहीं साधु को देखकर अथवा इनके ही पिता मुनि हुए हैं वे ही आ गए तो उस रूप को देखकर कहीं पुत्र भी न विरक्त हो जाय ? इतना तीव्र अनुराग था, और जब सुकौशल विरक्त हो गए तो मां को बड़ी वेदना हुई, हाय पुत्र भी चला गया। उस आर्तध्यान में मरकर सुकौशल की मां सिंहनी हुई और सुकौशल के विषाद में गुजरी थी सो उस सुकौशल को दुश्मन मानकर ध्यान में बैठे हुए सुकौशल को सिंहनी ने पंजा मारा और मुख से भक्षण किया। उनको उस समय केवलज्ञान हो गया, वह तो मुक्ति पधारे। पर देखो तो जो पहिले भव में प्यारा पुत्र था, दूसरे भव में उसी पर ही प्रहार किया उसकी ही मां ने सिंहनी के रूप में।

ज्ञानी का साहस—यह आत्मा तो पकड़ा भी नहीं जाता, रोका भी नहीं जाता, इसमें कहां नाम खुदा है कि अमुक चेतन पदार्थ मेरा मित्र है या अमुक चेतन पदार्थ मेरा शत्रु है। भ्रम हो गया है सो नाना चेष्टाएं की जा रही हैं। रातदिन मोह के प्रोग्राम-यह लल्ला यह लल्ली, इन्हें बुलावो, सत्कार सेवा करो, रात दिन मोह-मोह की ही स्थिति गुजर रही है। भ्रम हुआ ना, इस कारण उसके ही अनुकूल चेष्टाएं चल रही हैं। किसी भी समय यह मनुष्य एक मिनट को भी सबका ख्याल भुलाकर ये सब पर हैं—अपना उपयोग मैदान साफ कर ले कि यहाँ किसी भी परतत्त्व का विकल्प नहीं करना है, तो यह बड़े हित की बात है। ऐसी हिम्मत ज्ञानी पुरूष में होती है। यह अशक्य बात नहीं है, की जाने वाली बात है। जिसके मोह नहीं रहा वह तत्त्व का यथार्थ ज्ञाता है और घर में रहकर भी सारी व्यवस्था बनाता है तो भी जिस क्षण आत्महित के अर्थ आत्मा को सुलझाने की सावधानी बनाता है तो एक भी अणुमात्र उसके उपयोग में नहीं ठहरता। यह स्थिति कुछ ही समय को होती है फिर अन्य की स्थिति का विचार व प्रबन्ध कर लेता है। ठीक है, पर वह इस योग्य है कि वह जब चाहे तब अपने उपयोग को विशुद्ध बना ले।

शक्य कर्तव्य—भैया ! है क्या ? यहाँ भी तो आप सब बिल्कुल अकेले अकेले बैठे हैं। कोई लिपटा भी है क्या, कोई आपके साथ में पड़ा भी है क्या। बस आप अकेले बैठे हैं। इसमें ही अपने आपके उस अकेले स्वरूप की दृष्टि बनाना है। कौनसी कठिनाई आती है ? रही भीतर में पर के आकर्षण की कठिनाई सो ज्ञानी सन्त ने यह यथार्थ प्रकाश पा लिया कि प्रत्येक द्रव्य पूर्ण स्वतन्त्र है। किसी भी समय सर्वपदार्थों का विकल्प दूर कर केवल

आत्मदृष्टि का कार्य ज्ञानी गृहस्थ भी कर सकता है। इतना तो आप लोग देखते ही हैं कि कोई गृहस्थ बहुत अधिक फंसा हुआ है, किसी को ममत्व कम है, कोई अधिक परवाह नहीं करता। तो जब ऐसा तारतम्य हम यहाँ के पुरूषों में देखते हैं तो क्या कोई ऐसा ज्ञानी है कि किसी क्षण चाहे तो सर्व पर उपयोगों से हटकर केवल ज्ञानमात्र आनन्दघन निज कारणपरमात्मतत्त्व की अभेद उपासना कर सके। है, गृहस्थ भी है ज्ञानी सन्त जैसा।

ज्ञान कला की देन—भैया ! सब कुछ ज्ञानकला पर निर्भर है। लोक सुख से सुखी होना भी ज्ञान की देन है और दुःख और विपदा में विषाद मानना भी ज्ञान की ही एक परिणति की देन है। और सर्वप्रकार के क्षोभों से रहित होकर आत्मीय आनन्द अनुभवने की भी देन इस ज्ञान की कला पर है। बड़े प्रेम से भी हों, आजीविका भी ठीक हो और सर्वप्रकार से साधनसम्पन्नता में रहते हों, फिर भी कल्पना में कुछ कुछ बातें तृष्णा की विचार कर यह जीव अपने को दुःखी अनुभवने लगता है। जिस मनुष्य के पास जितना जो कुछ वैभव है उस वैभव से अधिक वैभव के प्रति तृष्णा रखने से उस वैभव का भी सुख भोग नहीं पाता। जब चित्त इससे अधिक सम्पत्ति के लाभ में लगा है तो पाई हुई सम्पदा का आनन्द कहां रहा ? तो वर्तमान मिले हुए समागम का भी लाभ खो देता है यह मोही तृष्णावान- पुरूष।

वर्तमान स्थिति में ही धर्मपालन का विवेक—कोई सोचे एक धार्मिक प्रोग्राम बनाने की धुन में कि मैं इतना वैभव और बना लूं, इतना और इकट्ठा कर लूं फिर तो आराम से खूब धर्म साधन करेंगे। ऐसी दृष्टि जिनकी वर्तमान में है तृष्णा वाली दृष्टि, उससे कहां यह आशा की जा सकती है कि उतना भी मिल जाय जितना कि उसने संकल्प किया है तब भी तृष्णा से मुक्ति हो जाय। यह आशा नहीं की जा सकती है। धर्मपालन का तो यह हिसाब है। इस ही समय कैसी भी स्थिति हो उस ही स्थिति में विभाग बंटवारा बनाकर, उसमें ही गुजारे का साधन बनाकर धर्मपालन में लग जाइए। धर्म का पालन पैसे द्वारा साध्य नहीं है। वह तो परिणाम द्वारा साध्य है, किंतु हां, इतना अवश्य है कि जिनके पास वैभव है, संचय करते हैं वे यह सोचें कि धर्म तो बातों से मिलता है, दमड़ी खर्च करने की क्या जरूरत है ? यह धन तो ज्यों का त्यों बना रहे। दान में, भोग में उपकार में काहे को खर्च करें, धर्म तो भावों से बनता है। तो जिसको ऐसी तृष्णा का परिणाम लगा हुआ है वह पुरूष कैसे धर्मपालन कर सकेगा ? वर्तमान स्थिति में ही सुलझेरा करना है।

ज्ञातृत्व में क्लेश का क्षय—यह ज्ञानप्रकाश जो अनाकुलता का साथी है, जब उपयोगगत होता है तो इसके रागादिक क्षीण हो जाते हैं, विडम्बनाएं समाप्त हो जाती हैं। ऐसे परमशरणभूत परमपिता एकमात्र आत्मसर्वस्व निज चैतन्यस्वभाव का शरण छोड़कर अन्यत्र कहां शरण में जाते हो ? जैसे फुटबाल को कहीं शरण नहीं है, जिसके पास जायगी वहीं से लात खायेगी। फुटबाल तो लात खाने के लिए ही बनी है। नाम है उसका फुट से धक्का लगे ऐसा बाल। तो जैसे फुटबाल धक्के ही खाती रहती है, कोई शरण नहीं रखता, यों ही यह मुग्ध जीव व्यामोही जीव जगह जगह धक्के ही खाता रहता है। इसे कोई शरण नहीं रख सकता है, और धक्का क्या

खाता है, खुद ही अज्ञानी बनकर पर को शरण मानता है और है नहीं वह शरण, इसलिए धक्का समझता है, नहीं तो धक्का काहे का ? ज्ञाता दृष्टा रहे, फिर काहे का क्लेश ?

बड़ा अजायबघर—भैया ! यह संसार अजायबघर है। अजायबघर में दर्शक को देखने भर की इजाजत है, किसी चीज को छूने की और लेने की इजाजत नहीं है। यदि वह छुवेगा, लेगा तो वह बन्धन में पड़ेगा, गिरफ्तार होगा। यों ही यहाँ का सारा यह समागम केवल जानने के लिए है। स्नेह करेगा तो वह बन्धन में पड़ेगा और खुद दुःखी रहा करेगा। यों अपने हित का सब कुछ निर्णय करके, अब बहिरात्मापन को त्याग कर, अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर उस परमात्मा की भावना करो जो परमात्मतत्त्व सर्वसंकल्पों से अतीत है। उस निर्विकल्प कारणसमयसार और कार्यसमयसार की भावना बनावो।

परमात्मप्रदीप योग—ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूर्व श्लोक में यह कहा था कि आत्मा तीन प्रकार के हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इसमें मध्य की बात तो उपाय है और पूर्व की बात हेय है, और उत्तर की बात याने परमात्मा की बात उपादेय है। उस ही के समर्थन में प्रायोजनिक संक्षिप्त बहिरात्मत्व व अन्तरात्मत्व का वर्णन करके यहाँ बताया जा रहा है कि अन्तरात्मा बनकर बहिर्मुखत्व को छोड़ दो और अखण्ड निराकुल परमात्मतत्त्व की भावना करो। इस परमात्मतत्त्व की ही भावना के प्रसाद से आत्मा का हित है और किसी भी उपाय से आत्मा का हित नहीं है। अब ममता को त्यागकर परतत्त्वों में अहम् बुद्धि को त्यागकर ज्ञानमात्र निजस्वरूप का ज्ञान द्वारा अनुभव करें जिससे यह परमात्मतत्त्व प्रकट हो और सदा के लिए सारे संकट दूर हो जायें।

समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग समाप्त